Late Shri GURU DUTT

The most famous writer in world.
Late Shri GURU DUTT presenting of guru dutt sahitya.
The writer was magically perfume of shri bhagwat geeta in specially scientifically reason how to make a deastoney of the world
What was the correct BHAGWAT GEETA?

गुरुदत्त

श्रीमद्भगवद् गीता

सरल सुबोध भाषा भाष्य

गुरुदत्त
श्रीमद्भगवद् गीता
सरल सुबोध भाषा भाष्य
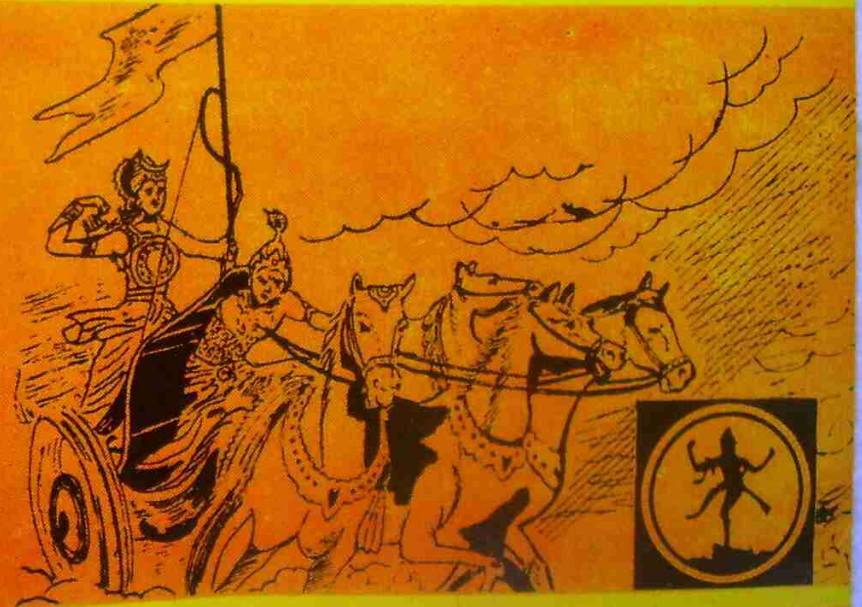
शाश्वत संस्कृति परिषद् का उद्देश्य

विशुद्ध भारतीय तत्त्वदर्शन पर सम्यक्-गवेषणा करना तथा उसका प्रचार करना एवं उसके आधार पर राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित सभी समस्याओं पर सुलझाव प्रस्तुत करना।

परिषद् के प्रकाशन

श्री गुरुदत्त की रचनाएं

न्याय दर्शन (भाष्य)
ब्रह्मसूत्र सरल भाषा-भाष्य खण्ड १
ब्रह्मसूत्र सरल भाषा-भाष्य खण्ड २
मुण्डक—माण्डूक्य उपनिषद्
ईश—केन—कठ उपनिषद्
प्रश्न—ऐतरेय उपनिषद्
यजुर्वेद में गृहस्थ धर्म
तैत्तिरीय उपनिषद्
विज्ञान और विज्ञान
वेद-प्रवेशिका
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)
सायंस और वेद
सांख्य-दर्शन (भाष्य)
कठोपनिषद् (भाष्य)
सृष्टि-रचना

राजनीति

धर्म तथा समाजवाद
बुद्धि बनाम बहुमत
भारत गांधी नेहरू की छाया में
राष्ट्र, राज्य और संविधान
वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान
हिन्दू राष्ट्र
हिन्दुत्व की यात्रा

संस्मरण

भाग्य-चक्र
भाव और भावना
मैं हिन्दू हूँ

पं० शुचिव्रत

न्याय प्रवेशिका
नवदर्शन परिचय

श्री गुरुदत्त एवं पं० शुचिव्रत

वेदों में सोम

श्रीमद्भगवद्गीता

(सरल सुबोध भाषा भाष्य)

गुरुदत्त

□□□

शाश्वत संस्कृति परिषद्, नई दिल्ली-1

प्रकाशक : शाश्वत संस्कृति परिषद्, नई दिल्ली
वितरक : भारती साहित्य सदन सेल्स
३०/६० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१
संस्करण : प्रथम (अक्तूबर, १९८३)
मुद्रक : विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

प्राक्कथन

पुस्तक का प्रयोजन

यद्यपि भगवद्गीता पर अनेक भाष्य एवं टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं तदपि इस भाष्य की आवश्यकता निम्न प्रयोजनवश अत्यधिक अनुभव हुई है।

गीता एक प्रयोजन विशेष से किया गया प्रवचन है। इसके कहने वाले यदुवंशी राजकुमार (वसुदेव के पुत्र) कृष्ण थे। भारतयुद्ध के आरम्भ में यह प्रवचन किया गया था।

अर्जुन वीर, साहसी और निष्ठावान होता हुआ भी परिवार के लोगों के युद्ध में मारे जाने के भय से युद्ध से उपराम हो गया था। अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा देने के लिए ही श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया था। यह उपदेश ही गीता के नाम से विख्यात है।

पूर्ण प्रवचन युद्धप्रेरक किस प्रकार है? यह बताना इस भाष्य का एक प्रयोजन है।

यह सर्वमान्य है कि गीता का पूर्ण कथन उपनिषदादि शास्त्रों की शिक्षा पर आधारित है। श्रीकृष्ण ने स्वयं (१३-४ में) यह स्वीकार किया है कि जो कुछ भी इस प्रवचन में कहा है, वही वेदों में, ऋषियों ने बहुत प्रकार से गान किया है; और ब्रह्मसूत्रों में भी युक्तियुक्त ढंग से स्पष्ट किया गया है।

कुछ भाष्यकारों ने गीता-प्रवचन के ऐसे अर्थ निकाले हैं, जो वेदादि शास्त्रों के विरोधी हैं। अतः हम गीता के भावों और अर्थों को लिखते समय वेद शास्त्रादि दर्शन-ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करेंगे। यह इस भाष्य का दूसरा प्रयोजन है।

भगवान् कृष्ण परमात्मा के अवतार थे और उनकी बात सत्य-सनातन है, हम इस बात को इस प्रकार मानते हैं कि भगवान् कृष्ण ने गीता का प्रवचन वेद शास्त्रानुसार किया था। अतः भगवद्गीता सत्य का प्रतिपादन करने वाला एक प्रवचन है। यह सर्वथा मान्य है। यह मान्यता इस कारण नहीं कि यह भगवान् श्री हरि-मुख से निकला प्रवचन है, वरं इस कारण है कि यह वेद शास्त्रानुसार किया गया प्रवचन है। भगवान् कृष्ण परमात्मा थे अथवा नहीं, यह एक पृथक् प्रश्न है। गीता के इस भाष्य को लिखने का एक प्रयोजन यह भी है कि अनेक मत-

मतान्तर वालों द्वारा प्रस्तुत गीता की विवेचनाओं पर अपना मत लिखा जाए, जिन्होंने गीता में से वेद विरुद्ध भाव निकालने का प्रयत्न किया है। कुछ एक टीकाकारों ने गीता को वेद के अतिरिक्त कहने वाला प्रवचन सिद्ध करने का भी यत्न किया है।

उदाहरण के रूप में महात्मा गांधी कहते हैं—"न तो महाभारत का युद्ध हुआ है न ही गीता युद्ध मे प्रेरणा देने वाला ग्रंथ है।"

महात्माजी अपनी गीता की विवेचना में यह भी लिखते हैं कि मन भर तर्क से एक तोला भर श्रद्धा भारी होती है। यह मनगढ़न्त बात है। गीता में तो स्पष्ट कहा है कि बुद्धि से दूर रखकर किया कर्म सर्वथा हीन है।

भगवान् कृष्ण हिंसा-अहिंसा का विचार छोड़कर कर्म के उद्देश्य को सर्वोपरि समझते हैं। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गीता निष्काम भाव से अर्थात् अपने स्वार्थ की सिद्धि का विचार छोड़कर कर्म करने की प्रेरणा देती है। यही सर्वश्रेष्ठ व्यवहार है।

आज भी भारत देश में चर्चा है कि क्यों न मृत्यु दण्ड वर्जित कर दिया जाए? केवल इस कारण कि किसी का जीवन समाप्त करने का अधिकार किसी को नहीं। विचित्र बात यह है कि अपने को सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान मानने वाले न्यायमूर्ति भी इस भ्रमजाल में भ्रमित हो रहे हैं।

भगवद्गीता में इसकी विवेचना की गयी है। मरना-मारना तो वस्त्र बदलने के समान है। जीवन उद्देश्य है 'धर्म संस्थापनार्थाय'। इसमें हत्या होती है अथवा हत्या की जाती है, गौण है।

देश के विद्वान भी गीता के भाव को न समझ भ्रमित हो रहे हैं। स्वामी शंकराचार्य जैसे विद्वान भी कहते हैं—

"तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तत् च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठा-रूपाद् धर्माद् भवति। (गीता शंकरभाष्य उपोद्घात्)

अर्थात् संक्षेप में इस गीता शास्त्र का प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् कारण सहित संसार की अत्यन्त उपरति हो जाना है। साथ ही (परम कल्याण) सर्व कर्म-सन्यासपूर्वक आत्मज्ञान निष्ठारूप धर्म से प्राप्त होता है।

हमारा कहना है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संसार से उपराम होने के लिए कहीं कुछ नहीं कहा। गीता-उपदेश तो संग्राम संसार में धर्म की विजय कराने के लिए कहा गया था।

संक्षेप में गीता के इस भाष्य का उद्देश्य यह है कि गीता का यथार्थ मत प्रकट किया गया। यथार्थ मत यही है कि मोहवश पथभ्रष्ट हो रहे अर्जुन को ठीकजीवन मार्ग बताने के लिए किया गया यह प्रवचन है। तभी तो उपदेश के उपरान्त अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हो गया था।

वैसे हम गीता को भारतीय साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ मानते हैं। इसमें मानव जीवन की प्रत्येक विधा के लिए पथ-प्रदर्शन मिलता है। चारों वर्ण और चारों आश्रमों में रहते हुए मनुष्य के जीवन-भर पथ-प्रदर्शन का यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। समाज के भी प्रत्येक आयोजन में इससे पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है।

इसी कारण और इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रख यह भाष्य प्रस्तुत है।

अर्जुन ने गीता प्रवचन के अन्त में कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ भ० १८-७३॥

'हे कृष्ण! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे सब बात समझ आ गयी है और मैं संशयरहित हो आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।'

यही भाव सबके मन में हो, इसी भावना से यह भाष्य पाठकों को अर्पित किया जा रहा है।

१८/२८, पंजाबी बाग
नई दिल्ली-११००२६

गुरुदत्त

प्राक्कथन

महाभारत का युद्ध जैसा महाभारत ग्रन्थ में लिखा मिलता है, अति भयंकर था। इसमें दोनों पक्षों की अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र के मैदान में एकत्रित हो परस्पर लड़ मरी थी। यह युद्ध दो भाईयों की सन्तान के भीतर हुआ था। इस युद्ध की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

: १ :

हस्तिनापुर के राजा शान्तनु के तीन पुत्र थे देवव्रत, चित्रांगद तथा विचित्र-वीर्य। देवव्रत ने भीष्म प्रतिज्ञा ली कि वह जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहेगा तथा सन्तान उत्पन्न नहीं करेगा। इस कारण उसका नाम भीष्म पड़ा।

चित्रांगद अविवाहित युद्ध करता हुआ मारा गया। तीसरा पुत्र विचित्रवीर्य प्रायः रुग्ण रहता था। यह अभी छोटी अवस्था का ही था कि उसकी माँ सत्यवती ने सन्तान सूत्र टूटने से बचाने के लिए उसके बड़े भाई भीष्म को विचित्रवीर्य के विवाह का प्रबन्ध करने के लिए कहा।

उन दिनों काशिराज ने अपनी तीन कन्याओं के स्वयंवर की घोषणा की थी। स्वयंवर के दिन भीष्म वहाँ जा पहुँचा और उसकी तीनों कन्याओं का अपहरण कर ले आया।

इनमें से बड़ी बहिन अम्बा ने कह दिया कि उसने अपने मन में शल्वराज को वरा हुआ है। इस कारण वह अब किसी दूसरे की भार्या नहीं बनेगी। इस पर उसे छोड़ अन्य दो, अम्बिका तथा अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया गया।

वे दोनों कन्याएँ अति सुन्दर थीं। विचित्रवीर्य अभी अल्पायु था, इस कारण वह अपने को संयम में नहीं रख सका। कुछ वर्षों में ही यक्ष्मा के रोग में ग्रस्त हो वह निःसन्तान मृत्यु को प्राप्त हो गया।

इस पर विचित्रवीर्य की माता को भारी दुःख हुआ। उसे कुल सूत्र के टूट जाने की चिन्ता लगने लगी। उसने, अपने विवाह से पूर्व की अवैध सन्तान व्यास मुनि को विचित्रवीर्य की पत्नियों से सन्तान उत्पन्न करने को कहा। सन्तान हुई विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियों से और उनकी एक सेविका से। ये तीनों सन्तान

विलक्षण थीं। अम्बिका का पुत्र धृतराष्ट्र जन्म से चक्षुविहीन हुआ। अम्बालिका का पुत्र पाण्डु शिराओं से दुर्बल हुआ और उनकी सेविका का पुत्र अति बुद्धिमान परन्तु साधु स्वभाव का हुआ।

अन्धे पुत्र धृतराष्ट्र का विवाह गांधार-नरेश की कन्या गाँधारी से किया गया और उसकी एक सौ सन्तान हुईं। सबसे बड़ी सन्तान थी दुर्योधन। पाण्डु के दो विवाह हुए कुन्ती तथा माद्री से। पाण्डु वैसे तो अति वीर था, परन्तु स्नायु-दौर्बल्य रोग से ग्रस्त था। इस कारण वह पति बनने के सर्वथा अयोग्य था। परि-णामस्वरूप कुन्ती के नियोग द्वारा तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्री के दो पुत्र हुए नकुल तथा सहदेव।

अंधे धृतराष्ट्र के दुर्योधन इत्यादि पुत्र अयोग्य, दुराचारी तथा स्वच्छन्द थे। पाण्डु के पुत्र वीर, धीर एवम् धर्मात्मा थे।

भीष्म तथा प्रजागण की राय से कुन्ती के बड़े पुत्र युधिष्ठिर को युवराज पद दिया गया। इस पर गान्धारी-पुत्र दुर्योधन तथा उसके भाईयों ने कई प्रकार के षड्यन्त्र रच कर पाण्डवों को मरवा डालना चाहा।

परन्तु पाण्डव बचे रहे। पीछे पाँचों पाण्डवों का एक ही पत्नी से विवाह हो गया। भार्या थी महाराज द्रुपद की पुत्री द्रौपदी।

दुर्योधन ने कलह उत्पन्न कर दी। इस पर पाण्डु के पुत्रों को पृथक् राज्य क्षेत्र देकर एक छोटे से गाँव इन्द्रप्रस्थ में भेज दिया गया।

पाण्डवों ने उस छोटे से राज्य को भी बहुत उन्नत किया और फिर वहाँ राजसूय यज्ञ किया जिसमें भूमण्डल के राजा सम्मिलित हुए।

यज्ञ में युधिष्ठिर को भेंट-स्वरूप बहुत धन और सामान मिला। इस पर दुर्योधन को युधिष्ठिर से ईर्ष्या होने लगी।

दुर्योधन ने पुन: षड्यन्त्र रच कर युधिष्ठिर को अपने राज्य में जूआ खेलने के लिए आमन्त्रित किया तथा छल से उसका सब कुछ राज्य-सहित जीत लिया। तदनन्तर, जूए की एक शर्त के अनुसार इनको बारह वर्ष तक बनवासी जीवन व्यतीत करने तथा एक वर्ष अज्ञातवास करने के लिए भेज दिया गया। पाँचों भाई युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी भार्या द्रौपदी के साथ वनों को चले गये।

बारह वर्षों तक वनों में और एक वर्ष तक अज्ञात में वास कर युधिष्ठिर ने अपना इन्द्रप्रस्थ का राज्य माँगा, परन्तु दुर्योधन ने राज्य वापस करने से इन-कार कर दिया। परिणामस्वरूप युद्ध हुआ और युद्ध के लिये दोनों पक्षों के मित्र तथा सम्बन्धी राजागण अपनी-अपनी सेनाओं के साथ कुरुक्षेत्र की सपाट भूमि पर एकत्रित हो गये। यह है महाभारत युद्ध की पृष्ठभूमि।

: २ :

गीता अध्यात्म विद्या का एक ग्रन्थ माना जाता है। ऊपर कथा का सार वर्णन करने का अभिप्राय यह है कि उस काल में युद्ध में सम्मिलित होने वाले योद्धा भी ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता थे और उनको उस ज्ञानयुक्त जीवन में युद्ध बाधक प्रतीत नहीं होता था। कम-से-कम महाभारत का लेखक यही प्रकट कर रहा है कि युद्ध करना भी एक धर्म का अंग हो सकता है।

युद्ध एक कर्म है। इस कारण यह कर्म धर्मयुक्त भी हो सकता है और अधर्म-युक्त भी। अतः युद्ध की विवेचना धर्म-अधर्म की पृष्ठभूमि पर की जानी चाहिये।

प्रायः मनुष्य जब राजनीतिक कार्य करने लगते हैं तो समझते हैं कि वे धर्म से कुछ पृथक् कार्य करने जा रहे हैं। जो धर्म-अधर्म की व्याख्या वेदादि शास्त्रों में है, वह युद्ध में लागू नहीं होती। राजनीतिज्ञों का ऐसा आज भी विचार है और कदाचित् तब भी रहा होगा।

गीता के प्रवक्ता इस विचार को गलत बताते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य का कोई भी कार्य ऐसा नहीं जिसमें धर्म-अधर्म के भेदभाव करने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य जीवन का प्रत्येक कार्य धर्मयुक्त हो सकता है तथा अधर्मयुक्त भी हो सकता है।

युद्ध जैसे भयंकर कार्य का वर्णन करते हुए महामुनि व्यास ने यह आध्यात्म का प्रसंग यहाँ छेड़ा है।

कुछ लोग समझते हैं कि महाभारत का युद्ध एक कल्पित घटना है; वस्तुतः महाभारत इतिहास की किसी घटना का वर्णन नहीं करता।

ऐसा नहीं है। अंग्रेजों के यहाँ आने से पूर्व के सब भारतीय लेखकों ने महा-भारत युद्ध को ऐतिहासिक घटना स्वीकार किया है। हम भी इसे ऐतिहासिक घटना ही मानते हैं।

इस इतिहास का वृतान्त लिखते-लिखते जब युद्ध का वर्णन होने लगा तो महामुनि व्यास ने युद्ध जैसे घोर कार्य को भी धर्म का एक अँग सिद्ध करने के लिए इस कृष्ण-अर्जुन संवाद का उल्लेख किया है।

यह सम्भव है कि संवाद इस विस्तृत रूप में युद्ध भूमि में न हुआ हो जैसा कि हम गीता में पढ़ते हैं। जब महाभारत ग्रन्थ में इसका उल्लेख होने लगा होगा तो लेखक ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करने के लिए इसमें कुछ विस्तार किया होगा।

व्यासजी ने युद्ध का संक्षिप्त वर्णन करते हुए इस संवाद का कारण भी बताया है कि युद्ध का उद्देश्य धर्मयुक्त है अथवा नहीं। इसकी चर्चा 'उद्योग पर्व' में की गई है।

युद्ध आरम्भ होने से पूर्व श्रीकृष्ण सन्धि कराने के विचार से दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र के पास गये।

महामुनि व्यास के कथनानुसार उस समय श्री कृष्ण की ख्याति भारत देश में विस्तार पा चुकी थी। कदाचित् यह उनके जरासंध और भामासुर जैसे योद्धाओं को परास्त करने के कारण थी। इसके अतिरिक्त श्री कृष्ण की विद्वत्ता की भी धूम थी। इसी कारण तो राजसूय यज्ञ में उन्हें प्रधान बनाया गया था।

अतः जब कृष्ण धृतराष्ट्रको समझाने हस्तिनापुर पहुँचे तो वहाँ की प्रजा की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया।

इस प्रकार एक विख्यात व्यक्ति का सन्धि के लिए आना, एक उल्लेखनीय बात थी।

श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र की राज्य सभा में पाण्डवों का राज्य पाने का दावा सिद्ध किया तथा सन्धि की शर्त रखी। उन्होंने कहा कि यदि पाँच भाइयों को पाँच गांव भी दे दिये जायें, तब भी सन्धि हो सकती है।

जब दुर्योधन इस बात को भी नहीं माना तो श्री कृष्ण ने उस सभा में ही दुर्योधन को चेतावनी दे दी। उसने कहा—

यच्चंभ्योयाचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः॥

(महाभारत उद्योग०—१२८-१७)

तू याचना करने पर भी पाण्डवों को यह पैतृक भाग नहीं देना चाहता, परन्तु यह तुझे उस समय देना पड़ेगा जब तू रणभूमि में धराशायी होकर ऐश्वर्यहीन हो जायेगा।

दुर्योधन अभिमान में चूर नहीं माना और परिणामस्वरूप युद्ध हो गया।

युद्धभूमि में दोनों ओर से सेनाएँ आमने-सामने आ खड़ी हुई और शंखनाद कर युद्ध में जूझने ही वाली थीं कि उस समय अर्जुन के मन में एक संशय उत्पन्न हो गया। वह संशय था कि क्या राज्य-वैभव प्राप्त करने के लिए अठारह अक्षौहिणी सेना को लड़ मरना चाहिये? इस युद्ध में, सब सगे सम्बन्धी एकत्रित हो परस्पर लड़ने-मरने को तैयार हो गये थे।

अर्जुन ने विचार किया कि तनिक देखूँ कि कौन-कौन, किस-किस ओर से लड़ने के लिए आये हैं। वह रथ दोनों सेनाओं के मध्य में ले जाकर खड़ा करने के लिए कहने लगा।

अर्जुन का रथ श्री कृष्ण हाँक रहे थे। कृष्ण शस्त्र धारण कर युद्ध में भाग नहीं ले रहे थे। इसका भी कारण था।

कृष्ण के बड़े भाई बलराम के पुत्र का दुर्योधन कीलड़ की से विवाह हो चुका था और कृष्ण की सगी बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन से हुआ था। अतः दुर्योधन भी यादवों से सहायता की आशा करता था और अर्जुन भी।

जब दुर्योधन कृष्ण को अपनी ओर से युद्ध में सम्मिलित होने के लिए कहने

आया तो उस समय अर्जुन भी वहाँ इसी निमित्त जा पहुँचा।

कृष्ण दुर्योधन के पक्ष में जाना नहीं चाहता था क्योंकि वह जानता था कि उसका पक्ष अधर्म का है परन्तु बड़े भाई का समधी, पारिवारिक सम्बन्धों के कारण जब सहायता माँगने आया तो कृष्ण ने कह दिया कि एक ओर यादवों की एक अक्षौहिणी सेना होगी तथा दूसरी ओर वह अकेला निःशस्त्र रहेगा। उसने अर्जुन से कहा कि पहले वह बताये कि उस, निःशस्त्र को, अपने पक्ष में सम्मिलित करना चाहता है अथवा यादवों की अक्षौहिणी सेना चाहता है। अर्जुन ने बिना हिचक श्री कृष्ण को अपने पक्ष में माँग लिया। वह जानता था कि कृष्ण जैसा नीति-निपुण व्यक्ति उसके पक्ष में कई अक्षौहिणी सेना से बढ़कर होगा।

दुर्योधन भी अक्षौहिणी सेना प्राप्त कर प्रसन्न वदन चला गया। कृष्ण का यह भी कहना था कि यदि बड़े भाई बलराम दुर्योधन के पक्ष में लड़ेंगे तो वह भी शस्त्र उठा लेंगे, अन्यथा वह शस्त्र नहीं उठायेंगे।

अर्जुन के आग्रह पर श्री कृष्ण ने उसके रथ का सारथि बनना स्वीकार कर लिया।

अर्जुन जब सेनाओं के मध्य में पहुँचा तो उसे कुछ ऐसा समझ आया कि राज्य जैसी तुच्छ वस्तु की प्राप्ति के लिए इतना नर-संहार करना महापाप होगा। यह युद्ध से भयभीत नहीं था, वरन् उस युद्ध से होने वाली हानि अर्थात् नर-हत्या, वह भी राज्य के लिए, को वह पापपूर्ण मानने लगा था।

युद्ध से पूर्व युधिष्ठिर के मन में तो भय उत्पन्न हुआ था। कौरवों की विशाल सेना को देखकर जब उसने अपने मन की बात अर्जुन के सम्मुख रखी तो अर्जुन ने कहा था—इसमें भय की बात नहीं है। एक बार पहले भी ऐसा अवसर आ चुका है। एक देवासुर संग्राम में असुरों की संख्या बहुत अधिक थी और इन्द्र भयभीत ब्रह्माजी के पास गया। तब ब्रह्मा ने कहा थाः

त्यक्त्वाऽधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः॥

(महाभारत भीष्म०—२१-११)

यदि अधर्म, लोभ और मोह को त्याग कर, धर्म का सहारा लेकर एवं अहंकार से शून्य होकर युद्ध करोगे, तो विजय होगी। जहाँ धर्म है वहाँ ही विजय होती है।

अर्जुन ने नारद जी का वचन भी युधिष्ठिर को बताया—

एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः।
यथा तु नारदः प्राहयतः कृष्णस्ततो जयः॥

(महाभारत भीष्म०—२१-१२)

निश्चित रूप से युद्ध में विजय हमारी ही होगी। जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ विजय है।

अर्जुन का अभिप्राय यह था कि कृष्ण अति बुद्धिशील और नीति निपुण हैं। उनके रहते पराजय हो नहीं सकती।

अतः अर्जुन को विश्वास था कि जय तो उसके पक्ष की ही होगी।

परन्तु अर्जुन को तो युद्ध की उपादेयता पर ही सन्देह उत्पन्न हो गया था। वह संशय करने लगा था कि युद्ध करने से देश, जाति और कौरव परिवार का कल्याण होगा अथवा नहीं ?

यह संशय उसी प्रकार का था जैसा महात्मा गांधी और उनके शिष्य कहते थे कि हिंसा से जो कुछ प्राप्त होगा वह धर्मयुक्त नहीं होगा। गांधीजी कहते थे कि हिंसापूर्ण युद्ध से सफलता नहीं मिलती।

यही बात अर्जुन के मन में उपस्थित हो गयी थी। इसी कारण श्री कृष्ण अर्जुन को कुछ शिक्षा देकर उसे युद्ध के लिए तैयार करना चाहते थे।

कहावत है कि सोये को तो जगाया जा सकता है, परन्तु जागे हुए चुप और निष्क्रिय व्यक्ति को जगाना और सक्रिय करना अति कठिन है।

रूठे हुए को मनाना सुगम है, परन्तु जो जान-बूझ कर, सोच-समझकर कार्य से उपराम हो जाये, उसको मनाना अति कठिन है।

इस कारण श्री कृष्ण ने अर्जुन को पुनः युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए व्यापक उपदेश दिया।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या युद्ध के बिना दूसरा कोई उपाय नहीं था ? अथवा ऐसी स्थिति में कोई दूसरा उपाय नहीं ढूँढना चाहिए था ?

पूर्ण महाभारत ग्रन्थ में और पूर्ण भारतीय साहित्य में श्री कृष्ण को एक महान् विद्वान् तथा योगी माना गया है। अतः एक महान् प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अर्जुन का कथन सत्य था अथवा कृष्ण की प्रेरणा कि युद्ध करना ही धर्म है, ठीक थी।

अर्जुन ने स्पष्ट शब्दों में कहा था—

(१) इस युद्ध में कौरव कुल और भारतवर्ष के वेद धर्म के मानने वाले, दोनों पक्षों में एकत्रित हो रहे हैं।

(२) निःसन्देह वे एक दूसरे से लड़ते हुए, (सब नहीं तो अधिक संख्या में), मारे ही जायेंगे।

(३) गुरु द्रोणाचार्य इत्यादि भी दिव्य अस्त्र लेकर युद्ध में आये हैं और यदि उन्होंने वे अस्त्र प्रयोग किये तो व्यापक नाश होगा।

(४) उस विनाश से कुल क्षय (अर्थात् समाज में क्षय) उत्पन्न होगा। इसका अभिप्राय यह है कि समाज में युवा लोग नहीं रहेंगे।

(५) युवा पुरुषों की कमी के कारण स्त्रियाँ दूषित (भ्रष्ट चरित्र वाली) हो जायेंगी। उनसे वर्णसंकर (वर्ण धर्म को भूली हुई) सन्तान उत्पन्न होगी।

मध्यकालीन भारत की अवस्था देख कर तो ऐसा कहा जाता है कि अर्जुन की भविष्यवाणी ठीक सिद्ध हुई है।

परन्तु हमारा इससे मतभेद है।

यह ठीक है कि भारत में आज से कुछ पहले घोर पतन की अवस्था उत्पन्न हो चुकी थी। हमारा सुनिश्चित मत है कि वर्तमान की और उससे कुछ पहले की जो पतितावस्था थी, वह महाभारत के युद्ध के कारण नहीं थी। इसका कारण पृथक् है। यह पतनावस्था भारतवर्ष की समाज में महाभारत युद्ध से भी डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व से बढ़नी आरम्भ हो चुकी थी।

यदि भारत की वर्तमान पतितावस्था का विश्लेषण करें तो हमें यह देखना पड़ेगा कि महाभारत युद्ध में क्षत्रियों का महान विनाश होने पर देश राजनीतिक विचार से असुरक्षित और हीन होना चाहिए था।

भारत में योद्धाओं की संख्या में अपार हानि हुई थी, परन्तु महाभारत के काल से लेकर अशोक के निधन तक देश पर कोई भी विदेशीय आक्रमण नहीं हुआ था।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि विशाल संख्या में क्षत्रिय योद्धाओं के मरने पर भी भारत राजनैतिक दृष्टि से दुर्बल नहीं हुआ था।

भारत में दुर्बलता आयी थी बौद्धिक दृष्टि से; हमारा अभिप्राय है कि भारत में ब्राह्मणत्व के ह्रास होने से।

यह ह्रास महाभारत के युद्ध के उपरान्त उत्पन्न नहीं हुआ था, वरन् इसका आरम्भ महाभारत युद्ध से पहले ही हो चुका था। यदि यह कहा जाये कि महाभारत का युद्ध भी इसी ह्रास का परिणाम था, तो अधिक ठीक होगा।

किसी भी देश में क्षत्रियों के न्यूनाधिक होने से देश दुर्बल नहीं होता। देश की जनसंख्या में भी कमी इस ह्रास में कारण नहीं होती। ब्राह्मणत्व में ह्रास युद्धादि कारणों के अतिरिक्त कारणों से होता है।

तनिक देखें कि महाभारत युद्ध से पहले ब्राह्मणत्व की क्या स्थिति थी। कुछ घटनाएं महाभारत युद्ध से पूर्वकाल की यहाँ लिख दी जायें तो हमारा कथन स्वयमेव स्पष्ट हो जाएगा।

(१) द्रोणाचार्य के जन्म की कथा तत्कालीन ब्राह्मणों की मानसिक अवस्था का ज्ञान कराती है।

द्रोणाचार्य महर्षि भारद्वाज—(वह भारद्वाज नहीं जिसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण में मिलता है। वह तो गंगा यमुना के संगम पर रहते थे और यह भारद्वाज गंगाद्वार (हरिद्वार) में रहते थे।)—की एक अप्सरा घृताची से अवैध सन्तान थे। एक दिन भारद्वाज स्नान करने गंगा पर गए तो वहाँ इस अप्सरा को स्नान के उपरान्त वस्त्र बदलते देख उस पर आसक्त हो गए और वहाँ ही उन्होंने उसे वीर्य-

दान किया। परिणामस्वरूप द्रोणाचार्य उत्पन्न हुए।

द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी, कृपाचार्य की जुड़वा बहन थी। कृपी और कृपाचार्य भी एक कृषि शारद्वान गोत्र की अवैध सन्तान थे। शारद्वान ऋषि कभी वन में शस्त्रास्त्र चलाने का अभ्यास कर रहे थे कि उनको जनपदी नाम की एक अप्सरा मिल गयी। वह उस पर आसक्त हो वहाँ ही सर्कण्डों के वन में उसको वीर्य दे भाग खड़े हुए। जाते हुए उनको अपना धनुष-बाण भी उठाकर ले जाना स्मरण नहीं रहा।

जनपदी ने एक पुत्र तथा एक कन्या को जन्म दिया और उनको वहीं वन में उनके पिता के धनुषबाण के समीप छोड़ चल दी।

महाराज शान्तनु के एक सैनिक ने उन दोनों को पाया तो महाराज के पास ले गया और शान्तनु ने उनका पालन पोषण किया। इस कृपाचार्य की बहन कृपी से द्रोणाचार्य का विवाह हुआ और उनका पुत्र अश्वत्थामा था।

ऐसे थे कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा जो कौरवों तथा पाण्डवों के गुरू थे।

(२) तत्कालीन ब्राह्मणों की मनः स्थिति का ज्ञान युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय की एक घटना से भी प्राप्त होता है।

यज्ञ में मुख्य पूजा की गई श्रीकृष्ण की। मुख्य पूजा का अभिप्राय यह था कि यज्ञ की समाप्ति पर जो सभा होती थी, उस सभा का प्रधान श्रीकृष्ण को बनाया गया था।

शिशुपाल ने इस पर आपत्ति की और वह कृष्ण की निन्दा करने लगा। कृष्ण ने शिशुपाल को सभा में सबके सम्मुख कह दिया, तुम मेरी बूआ के पुत्र हो। इस कारण मैं तुम्हारी एक सौ गालियाँ क्षमा कर दूँगा। परन्तु यदि तुमने एक सौ से एक भी अधिक गाली दी तो मैं तुम्हारी हत्या कर दूँगा।

वहाँ सहस्त्रों एकत्रित ब्राह्मणों ने शिशुपाल को मना नहीं किया। परन्तु कृष्ण द्वारा निर्धारित सीमा पार करने पर जब शिशुपाल कृष्ण द्वारा मारा गया तो ब्राह्मणों में हा-हाकार मच गया और वे कहने लगे कि यज्ञ विफल हो गया है।

यह ब्राह्मणत्व हीनता का उदाहरण है।

(३) युद्ध से पूर्व जब कृष्ण पाण्डवों और कौरवों में संधि कराने गए थे तो दुर्योधन के इनकार करने पर कृष्ण ने द्रोणाचार्य को कहा था कि धर्म पाण्डवों की ओर है, इस कारण एक ब्राह्मण को धर्म का पक्ष लेना चाहिए। इस पर द्रोणाचार्य ने कहा था कि मैं दुर्योधन का वेतन-भोगी सेवक हूँ।

ब्राह्मण बिकने लगे थे।

(४) युद्ध में यह नियम था कि दिव्य शस्त्रों का प्रयोग नहीं होगा। परन्तु युद्ध को शीघ्र समाप्त करने के लिए द्रोणाचार्य सामान्य सैनिकों की, अपने ब्रह्मास्त्र से हत्या करने लगे। इस प्रकार अधर्मयुक्त ढंग से सामान्य सैनिकों की हत्या होते देख कृष्ण ने विचार किया कि दुष्ट ब्राह्मण को जैसे भी हो बल छल से मार डालना चाहिए। वह जानता था कि इसका अपने पुत्र अश्वत्थामा से बहुत स्नेह है। इस कारण कृष्ण की सम्मति थी कि किसी प्रकार इसको यह बताया जाये कि इसका पुत्र युद्ध में मारा गया है। तब यह निराश हो शस्त्र फेंक देगा। इस पर योजना बन गई और भीम ने एक अश्वत्थामा नाम के एक हाथी की हत्या कर घोषणा कर दी कि उसने अश्वत्थामा को मार डाला है।

द्रोणाचार्य को भीम पर विश्वास नहीं आया। उसने युधिष्ठिर से पूछा। युधिष्ठर ने कहा, "हाँ, अश्वत्थामा मारा गया है, परन्तु···।" वह आगे बताना चाहता था कि वह अश्वत्थामा हाथी था परन्तु युधिष्ठर के इस कथन से पूर्व शंख आदि का घोर शब्द किया गया, जिससे युधिष्ठर के वाक्य का अंतिम अंश द्रोणाचार्य सुन नहीं सका। उसने शोकातुर हो शस्त्रास्त्र छोड़ दिए। इस समय सात्यकि ने द्रोणाचार्य के रथ पर चढ़ कर उसका सिर काट दिया।

इस प्रकार की अनेक घटनाएं विख्यात हैं जिनसे यह पता चलता है कि महाभारत काल में ब्राह्मणों का महान पतन हो चुका था।

(५) एक अन्य विख्यात कथा है। जब दुर्योधन इत्यादि द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तब एक बार जंगल में आचार्य जी का कुत्ता वन से भागता हुआ आया। उसका मुख खुला था, परन्तु बाणों से भरा हुआ था। कुत्ते को इस प्रकार जीवित परन्तु मुख में बाण भरे होने के कारण भोंकने में अशक्त देख सब बिस्मय करने लगे। इस पर गुरु जी ने कुत्ते के मुख से बाण निकाले और कुत्ते के पीछे-पीछे ऐसा करतब करने वाले को देखने चल पड़े।

एक भील जातीय युवक एक झोंपड़े के बाहर एक मिट्टी की मूर्ति के सामने बैठा बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था। दुर्योधन ने पूछा, 'भद्र, तुम्हारे गुरु कौन हैं?" वह भील बोला, 'गुरु द्रोणाचार्य।'

इस पर तो कौरव-पाण्डव सब गुरू से रुष्ट हो गए कि उन्होंने उनको क्यों वह शिक्षा नहीं दी जो उन्होंने उस भील युवक को दी है।

परन्तु पूछने पर पता चला कि वह भील युवक गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बना उसके सामने बैठ अभ्यास किया करता था, इस कारण गुरु द्रोणाचार्य को अपना गुरु मानता था।

द्रोणाचार्य ने भील युवक से कहा, गुरु को दक्षिणा दिए बिना तुम्हारी विद्या फलेगी नहीं।

भील ने जब दक्षिणा देनी स्वीकार की तो द्रोणाचार्य ने निःसंकोच भाव से कह दिया, अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर दे दो।

यह एक ब्राह्मण की ओर से नीचता की पराकाष्ठा थी।

यह एकलव्य था। उसने गुरु दक्षिणा दी अपनी शिक्षा को सफल करने के लिए। परन्तु वह हो गया बाण चलाने के ही सर्वथा अयोग्य अर्थात् उसकी शिक्षा असफल रह गई।

हमारा यह मत है कि महाभारत काल में ब्राह्मण, अभिप्राय यह कि वे लोग जो ब्राह्मण माने जाते थे, ब्राह्मणत्व से ही हीन हो चुके थे।

यदि भीष्म और द्रोण कौरवों के अधर्माचरण के कारण, उनकी ओर से लड़ने से इनकार कर देते तो कदाचित् युद्ध होता ही नहीं, और यदि होता तो इतना विनाशकारी न होता जितना हुआ था।

अतः यह कथन मिथ्या है कि ब्राह्मणत्व का ह्रास महाभारत युद्ध के कारण हुआ था। यह तो युद्ध से पहले ही हो चुका था।

भारत का पतन ब्राह्मणत्व में ह्रास के कारण हुआ है। यह ह्रास महाभारत युद्ध से पहले ही उपस्थित था। महाभारत के युद्ध के उपरान्त यह ह्रास उत्तरोत्तर वृद्धि पाता रहा। ब्राह्मणत्व में ह्रास के परिणामस्वरूप समाज में पतन उत्पन्न हुआ और उससे क्षत्रिय तथा अन्य वर्णों के लोग भी पतनाभिमुख हो गए।

ब्राह्मणत्व के ह्रास में कारण कई हैं, परन्तु मुख्य कारण है ब्राह्मण के बेटे को ब्राह्मण मान लेना। इसका अभिप्राय यह था कि विद्वत्ता पैतृक हो सकती है। एक सुदृढ़ और लम्बी चौड़ी काया वाले की सन्तान सुदृढ़ और विशालकाय तो हो सकती है; मन और बुद्धि भी पैतृक हो सकती है, परन्तु विद्वत्ता अर्थात् वे गुण जो प्रयत्न से प्राप्त किए जाते हैं, पैतृक नहीं हो सकते।

बुद्धि विशेष रखते हुए भी विद्वत्ता जिसमें वेदादि का ज्ञान सम्मिलित है, कदापि पैतृक नहीं हो सकती।

कहने का अभिप्राय यह है कि एक लोहार की सन्तान लोहार हो सकती है। इस कार्य में शरीर की कुशलता ही चाहिए। परन्तु विद्वत्ता, वेदादि शास्त्र का ज्ञान अथवा वेदांगों का अध्ययन वर्तमान जन्म में ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

जब जन्म से ब्राह्मण पद मिलने लगा तब विद्वत्ता का लोप होने लगा। यह मूल कारण है जिससे भारत का ह्रास हुआ है।

परन्तु भगवद् गीता के प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोकों में वर्णन है अर्जुन के संशय का कि युद्ध से हानि होगी। इस कारण अर्जुन ने युद्ध लड़ने से इनकार कर दिया था। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध से समाज का पतन होगा, स्त्रियां दूषित होंगी और वर्ण-संकर सन्तान उत्पन्न होगी। वर्ण-संकर का अभिप्राय है कि वे लोग जो अपने माता-पिता को जानते नहीं और उनके गुणों को ग्रहण करने का यत्न नहीं करते।

यदि प्राचीन इतिहास और शास्त्रों का अध्ययन करें और आज के भारतीय समाज का निरीक्षण करें तो एक बार यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि अर्जुन

की आशंका सत्य सिद्ध हुई है।

यही बात वर्तमान युग के भारतीय नेता महात्मा गांधी कहते रहे हैं। उनका कहना था कि अहिंसा से प्राप्त स्वराज्य ग्रहण करने योग्य नहीं होगा।

महात्मा गांधी ने वही बात कही थी जो अर्जुन ने अपने संशय में वर्णन की थी। वस्तुस्थिति यह है कि गांधी जी हिंसात्मक कार्यों को रोक नहीं सके थे और न ही अर्जुन युद्ध को रोक सका था। युद्ध भी हुआ। कृष्ण देख रहे थे कि युद्ध के ठीक परिणाम निकल सकें, इसके लिए धर्म पक्ष वालों की जीत होनी चाहिए। युद्ध न करने से तो अधर्म पक्ष वाले जीत जाते। तब पतन और भी अधिक होता।

युद्ध न होता तो पतन में डेढ़ हजार वर्ष न लगते, जो महाभारत युद्ध के उपरान्त लगे थे। वरन् पतन तुरन्त प्रकट होने लगता।

गांधी जी के आन्दोलनों को हम असफल आन्दोलन इस विचार से मानते हैं कि स्वराज्य उनके कारण तो मिला नहीं, परन्तु गांधी जी के अशुद्ध आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि जनता को भास होने लगा कि आन्दोलनों को चलाने वाले विजयी हुए हैं और सुभाष बोस इत्यादि युद्ध कार्य में संलग्न लोगों के करने से स्वतन्त्रता नहीं मिली।

इस प्रकार मिथ्या मार्ग पर चलने वाले राज्य पा गए और परिणाम हुआ पाकिस्तान-कशमीर युद्ध, उसमें आधे कशमीर का पाकिस्तान के अधिकार में हो जाना, चीन का युद्ध और उसमें पूर्ण पराजय, देश का कुप्रबन्ध और अन्त में (अन्तिम नहीं) १९७५-७६ की दुर्घटना। महात्मा गांधी की ही करनी है कि उनके शिष्य-प्रशिष्य अभी भी दनदनाते हुए देश को पतन की ओर धकेल रहे हैं।

देश में चरित्र का जो पतन हो रहा है, वह नेहरू इत्यादि के काल में ही हुआ है और नेहरू गांधी के बनाए नेता थे।

अतः, हमारा मत है कि महाभारत का युद्ध भारत के पतन में कारण नहीं बना था। यदि यह कहा जाए कि इस युद्ध ने पन्द्रह सौ वर्ष तक पतन की गति को रोक रखा था तो अधिक उपयुक्त होगा।

पुराणों में लिखे इतिहास से यह स्पष्ट है कि भारत में शान्ति रही। १९७६ विक्रमी पूर्व (१४२७ ईसा पूर्व) तक देश पर बाहरी आक्रमण नहीं हुए।

यह तो हम मानते हैं कि महाभारत के पूर्व से ही ब्राह्मण ह्रासोन्मुख हो चुका था। जहां उन गुणों को भी पैतृक मान लिया जाए, जो प्रयत्न से प्राप्त किए जाते हैं, वहां ऐसा ह्रास अवश्यम्भावी है।

—गुरुदत्त

१८/२८ पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-११००२६

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—

हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में मेरे पुत्रों तथा पाण्डु-पुत्रों ने युद्ध की इच्छा से एकत्रित होकर क्या किया ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

संजय ने कहा—

राजा दुर्योधन, पाण्डवों की सेना को व्यूह-बद्ध खड़े हुए देख कर आचार्य (द्रोणाचार्य) के पास जाकर कहने लगा—आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा पाण्डु-पुत्रों की व्यूहरचनाकार में खड़ी इस विशाल सेना को आप देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस (सेना) में बड़े-बड़े धनुषों वाले भीम तथा अर्जुन के समान शूरवीर, युद्ध कुशल सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद से शूरवीर हैं। धृष्टकेतु, चेकितान, बलशाली काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और नरों में श्रेष्ठ शैब्य,

पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमोजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र सब ही महारथी हैं ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! हमारे पक्ष में जो जो मुख्य योद्धा हैं, उनको आप जान लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो जो नायक है, उनको मैं बताता हूँ ।

आप और पितामह भीष्म, कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही शूरवीर अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवा तथा अन्य भी बहुत से शूर-वीर अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित युद्ध में चतुर मेरे लिए जीवन की आशा को छोड़कर आये हुए हैं ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

हमारी यह सेना, भीष्म पितामह द्वारा रक्षित सब प्रकार से अजेय है और उन (विपक्षियों) की भीम द्वारा रक्षित सेना जीतने के योग्य है ॥१०॥

इसलिये सब स्थानों पर अपनी-अपनी जगह में स्थित रहते हुए आप सब ही भीष्म पितामह की रक्षा करें ।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखंदध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कौरवों में वृद्ध प्रतापी भीष्म पितामह ने उस (दुर्योधन) के मन में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर में सिंह-नाद की भाँति गरज के समान शँख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तदनन्तर शंख और नगारे तथा ढोल, मृदंग, नृसिंह इत्यादि बाजे सब एक साथ बज उठे । उन सब का वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके बाद श्वेत घोड़ों वाले उत्तम रथ में बैठे हुए माधव (कृष्ण) और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

कृष्ण ने पांचजन्य, अर्जुन ने देवदत्त और कठोर कार्य करने वाले बड़े पेट वाले भीम ने पौण्ड्रनामक महाशंख बजाये ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक तथा सहदेव और नकुल ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न और राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा लम्बी भुजाओं वाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, इन सब ने अपने-अपने शंख बजाये ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

शंखों और ढोलों इत्यादि के बजने से उत्पन्न भयानक शब्द ने पृथिवी से आकाश तक गुंजते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे राजन् (धृतराष्ट्र !)! उसके उपरान्त कपिध्वज वाले रथ पर बैठे हुए अर्जुन ने समक्ष खड़े धृतराष्ट्र के पुत्रों को देखकर, जब शस्त्रास्त्र चलाने की तैयारी हो चुकी थी, अपना धनुष उठा कर श्री कृष्ण से कहा—हे अच्युत (धर्म से न हटने वाले) ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कीजिए ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।

जब तक मैं, युद्ध की कामना वाले, जो यहां आए हैं, उनको देख लूँ कि इस युद्ध कार्य में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धे र्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

जो-जो राजा लोग दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले, उसकी सेना में आए हैं, उन युद्ध करने वालों को में देखूँगा ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखत : सर्वेषाँ च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।।२५।।

हे भारत ! (संजय ने धतृराष्ट्र को सम्बोधित कर कहा) अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर श्री कृष्ण ने अपने उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच भीष्म और द्रोणाचार्य तथा सब राजाओं के सामने ला खड़ा किया और कहा कि हे पार्थ ! इन एकत्र हुए कौरवों को देखो ।

तत्रा पश्यत्स्थितानपार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समोक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धलवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।

तब अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में खड़े पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामा, भाई, भतीजों, पुत्र-पौत्रों तथा मित्रों को श्वसुर तथा सुहृदयों को देखा ।

उन सब खड़े हुए बन्धुओं को देखकर, अत्यन्त करुणा से युक्त हो कुन्ती-पुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह कहने लगा कि हे कृष्ण ! इस युद्ध की आकांक्षा रखने वाले अपने सम्बन्धियों को देखकर मेरे अंग शिथिल होने लगे हैं, मेरा मुख सूखने लगा है और मेरे शरीर में कम्पन तथा रोमांच हो रहा है ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा में जलन अनुभव होने लगी है । मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है । इसलिए मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

हे केशव ! मुझे तो लक्षण भी विपरीत दिखाई दे रहे हैं । (अर्जुन का यहाँ अभिप्राय है कि युद्ध का उद्देश्य उलट गया दिखाई देने लगा है ।) मुझे इस युद्ध में मित्र-बन्धुओं की हत्या में कल्याण दिखाई नहीं देता ।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।३२।।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।

हे कृष्ण ! मैं (इन बान्धवों पर) विजय की इच्छा नहीं रखता । न ही राज्य तथा सुखों की चाहना कर रहा हूँ । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्य से (तथा भोगों से) क्या प्रयोजन हो सकता है, क्योंकि जिनके लिए हम इन भोगों तथा राज्य की इच्छा करते हैं, वे तो सबके-सब जीवन की आशा को त्याग कर यहाँ युद्ध में खड़े हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ।।३४।।

आचार्य, ताऊ-चाचे, पुत्र और वैसे ही दादा, मामा, श्वसुर, पोते, साले तथा अन्य सब सम्बन्धीजन तो मरने-मारने के लिए आ खड़े हुए हैं । (ये मर गए तो राज्य किनके लिए प्राप्त करना है ?)

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

हे मधुसूदन ! मारे जाने पर भी, अथवा विजयी हो तीन लोकों का राज्य पाने के लिये भी, मैं इन सब को मारने की इच्छा नहीं रखता । फिर इस भूमि के लिये कहना ही क्या है ? (अर्थात् यह तुच्छ वस्तु है ।)

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें प्रसन्नता नहीं होगी । इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जब तक मैं, युद्ध की कामना वाले, जो यहां आए हैं, उनको देख लूँ कि इस युद्ध कार्य में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य ऐतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धे युंद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

जो-जो राजा लोग दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले, उसकी सेना में आए हैं, उन युद्ध करने वालों को में देखूंगा ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखत : सर्वेषाँ च महोक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

हे भारत ! (संजय ने धतृराष्ट्र को सम्बोधित कर कहा) अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर श्री कृष्ण ने अपने उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच भीष्म और द्रोणाचार्य तथा सब राजाओं के सामने ला खड़ा किया और कहा कि हे पार्थ ! इन एकत्र हुए कौरवों को देखो ।

तत्रा पश्यत्स्थितानपार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

तब अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में खड़े पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामा, भाई, भतीजों, पुत्र-पौत्रों तथा मित्रों को श्वसुर तथा सुहृदयों को देखा ।

उन सब खड़े हुए बन्धुओं को देखकर, अत्यन्त करुणा से युक्त हो कुन्ती-पुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह कहने लगा कि हे कृष्ण ! इस युद्ध की आकांक्षा रखने वाले अपने सम्बन्धियों को देखकर मेरे अंग शिथिल होने लगे हैं, मेरा मुख सूखने लगा है और मेरे शरीर में कम्पन तथा रोमांच हो रहा है ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा में जलन अनुभव होने लगी है । मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है । इसलिए मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव ! मुझे तो लक्षण भी विपरीत दिखाई दे रहे हैं । (अर्जुन का यहां अभिप्राय है कि युद्ध का उद्देश्य उलट गया दिखाई देने लगा है ।) मुझे इस युद्ध में मित्र-वन्धुओं की हत्या में कल्याण दिखाई नहीं देता ।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हे कृष्ण ! मैं (इन बान्धवों पर) विजय की इच्छा नहीं रखता । न ही राज्य तथा सुखों की चाहना कर रहा हूँ । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्य से (तथा भोगों से) क्या प्रयोजन हो सकता है, क्योंकि जिनके लिए हम इन भोगों तथा राज्य की इच्छा करते हैं, वे तो सबके-सब जीवन की आशा को त्याग कर यहां युद्ध में खड़े हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥

आचार्य, ताऊ-चाचे, पुत्र और वैसे ही दादा, मामा, श्वसुर, पोते, साले तथा अन्य सब सम्बन्धीजन तो मरने-मारने के लिए आ खड़े हुए हैं । (ये मर गए तो राज्य किनके लिए प्राप्त करना है ?)

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन ! मारे जाने पर भी, अथवा विजयी हो तीन लोकों का राज्य पाने के लिये भी, मैं इन सब को मारने की इच्छा नहीं रखता । फिर इस भूमि के लिये कहना ही क्या है ? (अर्थात् यह तुच्छ वस्तु है ।)

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें प्रसन्नता नहीं होगी । इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

इस कारण हे माधव ! अपने बान्धव, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य व्यक्ति नहीं हैं। (इनको मारना उचित नहीं है।) भला अपने कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी रह सकते हैं ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे न पातकम् ।।३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हो ये (दुर्योधनादि) लोग, कुल के नाश होने के दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने को पाप नहीं मानते, परन्तु हे कृष्ण ! हम, जो कुल के नाश होने के दोषों को जानते हैं, को ही इस पाप कर्म से बचने का उपाय क्यों नहीं करना चाहिये ?

कुल के नाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने से पूर्ण कुल पाप से दब जायेगा।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४२।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

हे कृष्ण ! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय (कृष्ण) ! स्त्रियों के दूषित हो जाने से वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं।

वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को भी नरक में ही ले जाने वाले होते हैं। पिण्ड-दान और जल की क्रिया के लोप हो जाने से (पितर अर्थात् अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा न रह जाने से) पितर भी नष्ट हो जाते हैं (पितरों के श्रेष्ठ गुण विस्मरण हो जाते हैं)।

इन वर्णसंकरकारक दोषों से (अर्थात् वर्णसंकर सन्तान के उत्पन्न होने से) तथा कुल का नाश करने वालों के पनपने से सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म

नष्ट हो जाते हैं।

हे जनार्दन ! नष्ट हुए कुल धर्मवाले मनुष्यों (समाज) का अनन्तकाल तक नरक में (पतन अवस्था में) वास होता है, ऐसा सुना जाता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

अहो ! यह बहुत ही शोक की बात है कि हम लोग जो राज्य और सुख के लोभ से अपने ही सम्बन्धियों की हत्या करने के लिये तैयार हुए हैं, कितना महान् पाप करने को उद्यत हो रहे हैं !

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

यदि मुझ शस्त्ररहित, विरोध न करते हुए को धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालेंगे तो भी मेरे लिये यह कल्याणकारी ही होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

संजय ने कहा—रणभूमि में इस प्रकार कहकर शोक से ग्रसित अर्जुन धनुष-बाण त्याग कर रथ की पीठ के आश्रय बैठ गया।

द्वितीय अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

संजय ने धृतराष्ट्र को कहा—

इस प्रकार करुणा से भरे हुए अश्रुपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों से अत्यन्त शोक में ग्रस्त अर्जुन को मधुसूदन (कृष्ण) ने यह वचन कहा—

भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जन ।।२।।

भगवान कृष्ण ने कहा—

अर्जुन ! तुमको इस विषम स्थान (युद्धभूमि) में यह अज्ञान किस कारण प्राप्त हुआ ? यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण है और न ही यह कीर्ति तथा स्वर्ग को प्राप्त करा सकता है ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

पार्थ (अर्जुन) ! इस नपुंसकता को मत प्राप्त हो। यह (नपुंसकता) तुझ में उचित नहीं है। हे परन्तप ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो जा ।[1]

---

१. अर्जुन ने जब युद्ध से उपराम हुए चित्त का दर्शन कृष्ण को कराया था तो उसने निम्न कारण वर्णन किये थे—

(क) युद्ध में दोनों पक्षों में लड़ने के लिए एकत्रित सब परस्पर सम्बन्धी तथा मित्र ही हैं ।

(ख) दोनों में से जो भी विजयी होगा, वह अपने सगे-सम्बन्धियों की हत्या करके ही विजयी होगा ।

(ग) अतः विजय किसी की भी हो, कुल का नाश होगा ही ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

अर्जुन ने कहा—

हे मधुसूदन ! इस युद्धभूमि में मैं गुरु द्रोण और पितामह भीष्म के साथ कैसे अपने बाणों से युद्ध करूँगा ? हे शत्रुनाश करने वाले (कृष्ण) ! ये दोनों ही पूजनीय हैं ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयोभोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

महानुभाव गुरुजनों की हत्या न कर इस लोक में भीख माँगकर जीना भी अधिक कल्याणकारी होगा क्योंकि (यदि युद्ध में जीतूंगा) गुरुओं की हत्या कर इनके रक्त से सने हुए अर्थ और काम रूपी भोगों को ही तो प्राप्त करूँगा ।[2]

(घ) पुरुष-वर्ग का अभाव हो जाने से विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ जायेगी । इससे स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी अर्थात् वे भ्रष्ट-चरित्र हो जायेंगी । तब उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह मर्यादा छोड़, स्वेच्छाचरण करने वाली होगी ।

इसी को अर्जुन ने लुप्तपिण्ड हो जाना कहा है । अभिप्राय यह था कि वे अपने बुजुर्गों की महान् परम्परा को भूल जायेंगी ।

(ङ) वर्णसंकर उत्पन्न होंगे । अर्थात् वर्णाश्रम धर्म का पालन न करने वाली सन्तान पैदा होगी ।

(च) पितर भी पतित हो जायेंगे । अभिप्राय यह है कि पितरों (पूर्वजों) ने जो ज्ञान-विज्ञान और मानवधर्म में प्रगति की है, वह लुप्त हो जायेगी ।

इन वचनों के उत्तर में ही कृष्ण कहते हैं कि युद्धभूमि में सगे-सम्बन्धियों का नाम लेकर ऐसा विचार करना नपुंसकता है । यह व्यवहार श्रेष्ठ जनों का सा नहीं ।

कृष्ण का अभिप्राय था कि अर्जुन के व्यवहार की प्रथम प्रतिक्रिया यह होगी कि दोनों पक्ष के लोग उसे नपुंसक, अनार्य व्यवहार करने वाला, भीरु तथा दुर्बल समझने लगेंगे ।

२. अर्जुन ने अपने मन की बात को स्पष्ट करने के लिए कहा कि गुरुजनों की हत्या कर, उनके रक्त से सिंची हुई सम्पदा तथा राज्य का भोग मुझे पसन्द नहीं ।

इस प्रकार की समस्या भले लोगों के समक्ष प्रायः उत्पन्न हो जाती है । वे

अपनी भलमनसाहत में भूल जाते हैं कि विपक्षी श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं हैं। "महानुभाव" शब्द अर्जुन ने भीष्म तथा द्रोण एवं अन्य वृद्धजनों के लिए प्रयोग किया था। यह उसकी भूल थी।

अर्जुन भूल गया था कि भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण इत्यादि लोग उस सभा में मौन बैठे रहे थे जिसमें द्रौपदी को नग्न करने का दुर्योधन ने आदेश दिया था। अतः वस्तुतः ये महानुभाव (श्रेष्ठ जन) नहीं थे।

उस सभा में यदि द्रौपदी साहस पकड़ युक्ति प्रति-युक्ति न करती तो ये कहे जाने वाले महानुभाव चुपचाप कुल-वधू को नग्न किया जाता देखने के लिए उद्यत हो गये थे।

द्रौपदी ने दो युक्तियाँ दी थीं। एक यह कि मैं वेश्या नहीं हूँ, जो मेरे शील और लज्जा का ध्यान नहीं किया जा रहा। मैं महाराज द्रुपद की पुत्री और धृष्टद्युम्न की बहन हूँ। आपके परिवार में विधिवत् विवाह कर लायी गयी वधू हूँ।

दूसरी युक्ति उसने यह दी थी कि जूए में युधिष्ठिर पहले स्वयं ही हारे थे। जब वह हार कर दास बन गये तो फिर वह किसी दूसरे को दाव पर कैसे लगा सकते थे? जो स्वयं अपना स्वामी नहीं, वह दूसरे किसी का स्वामी कैसे हो सकता है?

यह तथाकथित 'महानुभाव' भीष्म ही था, जिसने इस युक्ति का उत्तर दिया था कि जो बलशाली कहे वही धर्म कहाता है।

इस प्रकार की युक्ति क्या किसी "महानुभाव" की हो सकती है? अतएव अर्जुन ने जब यह कहा कि भीष्म और द्रोण जैसे महानुभावों को कैसे मारूँगा और उनको मार कर उनके रक्त से सिंचे वैभव और राज्य का भोग कैसे करूँगा तो उसने अपने भ्रमित मन से ही इनके लिए महानुभाव शब्द का प्रयोग किया था।

कोई आयु में बड़ा होने से अथवा सांसारिक सम्बन्धों से धर्मात्मा अथवा महानुभाव नहीं हो सकता। महान् भाव वाले को धर्म-अधर्म का ज्ञान होना चाहिए।

भीष्म यह मानता था कि बलशालियों की बात ही धर्म मानी जाती है। उसका यही अभिप्राय था कि वह दुर्योधन इत्यादि को बलशाली मानता है और इस कारण उसका अधर्मयुक्त कथन भी धर्म होगा। ये दोनों बातें (कि दुर्योधन बलशाली है और बलशाली का कथन धर्म है' मिथ्या थीं।

दुर्योधन इत्यादि बिना भीष्म और द्रोण के किसी प्रकार की शक्ति नहीं थे और न ही कभी बलवान का अधर्म युक्त कथन धर्म हो जाता है।

यह भी नहीं कि भीष्म इत्यादि धर्मशास्त्र पढ़े नहीं थे। इससे तो यही सिद्ध

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम—
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

होता है कि या तो वह और वहाँ बैठे अन्य वृद्धजन मूर्ख थे अथवा धूर्त थे।

कृष्ण ने भीष्म इत्यादि के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा। वह अर्जुन के मन को अपने विपरीत करना नहीं चाहता था। वह जानता था कि अर्जुन के मन में भीष्म इत्यादि के लिए भारी मान-प्रतिष्ठा है। उस प्रतिष्ठा पर आघात किये बिना कृष्ण ने भीष्म इत्यादि की बात को मिथ्या सिद्ध करने का यत्न किया।

कृष्ण का आशय था कि अर्जुन के धर्म सम्बन्धी विचारों को मिथ्या सिद्ध करने का उपाय करे। जब अर्जुन समझ जायेगा कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है और धर्म की स्थापना के लिए जो भी कार्य किया जाये वह पाप नहीं हो सकता, तब वह धनुष बाण लेकर उस अधर्म को नष्ट करने के लिए सम्मुख खड़े बान्धवों तथा गुरुजनों के साथ युद्ध में जुट जायेगा।

अर्जुन अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण धृतराष्ट्र के पुत्रों से युद्ध करना नहीं चाहता था और कृष्ण ने व्यक्तिगत सम्बन्धों से ऊपर धर्म को सिद्ध करने का ही यत्न किया। अर्थात् निजी सम्बन्धों की बात को छोड़कर सिद्धान्त की बात पर ही उसने बल दिया।

यह तो कृष्ण पहले ही कह चुके थे कि युद्ध भूमि में आकर और बान्धवों को पक्ष-विपक्ष में खड़ा देखकर, बिना युद्ध किये चल देने का प्रथम प्रभाव यह होगा कि सब लोग उसे नपुंसक, भीरू तथा मूर्ख समझने लगेंगे।

इस प्रकार के कटु वचन कह देने पर भी जब अर्जुन के कानों पर जूँ नहीं रेंगी तो उसने उसे समझाना आरम्भ कर दिया।

यहां हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। अर्जुन तथा कृष्ण के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। श्रीबालगंगाधर तिलक इन नामों के विषय में कहते हैं—

'हमारी राय में बहुत टीकाकारों का यह मत युक्तिसंगत नहीं है कि अनेक स्थानों पर आने वाले विशेषण रूपी सम्बोधन या कृष्णार्जुन के विभिन्न नाम गीता में हेतु गर्भित अथवा अभिप्राय सहित प्रयुक्त हुए हैं। हमारा मत है कि पद्य-रचना (कविता) के लिये अनुकूल नामों का प्रयोग किया गया है और उनमें कोई विशेष अर्थ उद्देश्य नहीं है।

गुडाकेश, हृषिकेश इत्यादि शब्दों के अब कुछ भी शाब्दिक अर्थ हों, यहाँ उनका प्रयोग केवल पद्य-रचना को ध्यान में रख कर किया गया है।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या (करना) श्रेष्ठ है अथवा हम जीतेंगे या वे (धृतराष्ट्र के पुत्र) हमको जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वे धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

मैं कायरता के दोष से ग्रसित हो अपनी स्वभाविक वृत्ति (शौर्यकार्य) से भ्रष्ट और धर्म के विषय में भ्रमित हुआ हूँ। इस कारण मैं आपसे पूछता हूँ कि निश्चय किया हुआ तथा मेरे लिए जो कल्याणकारी साधन हो, वह मुझे कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण में हूँ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

अर्जुन कह रहा है—

मैं धन-धान्य सम्पन्न भूमि का राज्य और देवताओं का-सा स्वामित्व पाकर भी (अपने पितर और गुरुजनों की हत्या से) जो शोक मुझ में व्याप्त होगा उसको मिटा नहीं सकूंगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय धृतराष्ट्र को कहते हैं—

गुडाकेश (निद्राजयी अर्थात् अर्जुन) हृषीकेश (कृष्ण) को यह कहकर फिर गोविन्द (श्रीकृष्ण) को "मैं युद्ध नहीं करूँगा।" इस प्रकार कह चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

हे भारत (भरतवंशी धृतराष्ट्र!) दोनों सेनाओं के बीच में खिन्न मन अर्जुन को कृष्ण ने हँसते हुए यह वचन कहे—[3]

[3]. अब श्रीकृष्ण अर्जुन को एक दूसरे ढंग से समझाना आरम्भ

तू उनके लिए शोक कर रहा है जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए। तू बुद्धिमानों जैसी बात कहता है परन्तु ज्ञानी लोग तो न उनका शोक करते हैं जो मर गये हैं, और न ही उनका शोक करते हैं जो अभी जीवित हैं।

करते हैं। पहले तो उन्होंने युद्ध में उपस्थित योद्धाओं के मन में उसके प्रति हीन विचारों की बात कही। परन्तु इसका प्रभाव नहीं हुआ और अर्जुन युद्ध न करने पर दृढ़ रहा। तब श्रीकृष्ण ने उसे युद्ध की सैद्धान्तिक बात बतानी आरम्भ कर दी। कृष्ण ने सब से पहले यह बताया कि वह आत्मा जो सब में (कृष्ण में, अर्जुन में तथा राजा-महाराजाओं में) बैठा कर्म करवाता है, वह न तो कभी नहीं था, ऐसा है और न कभी नहीं रहेगा, ऐसा है। इस कारण किसी के मरने-जीने का दुःख करने की आवश्यकता नहीं। कारण यह कि जो कर्म करने वाला है, वह मरता तथा पैदा होता ही नहीं।

यहाँ श्री कृष्ण एक वैदिक सिद्धान्त की विवेचना आरम्भ करने लगे हैं। वैदिक सिद्धान्त है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः
(ऋ० १-१६४-१)

अर्थात्—इस सुन्दर बूढ़ा होनेवाले तथा यज्ञ-कर्म करनेवाले के बीच में एक इसका भाई भोग करनेवाला बैठा है।

सुन्दर, बूढ़ा होने वाला और यज्ञ-कर्म करनेवाला यह शरीर (मनुष्य) है। शरीर के भीतर भोग करनेवाला शरीर से पृथक् है।

वह सदा से है। ऐसा नहीं कि वह कभी नहीं था अथवा ऐसा नहीं कि वह कभी नहीं रहेगा। वह अजर-अमर ही मुझमें है, तुममें है और इन राजा लोगों में है।

दर्शनशास्त्रों में और वेदों में भी यही कहा है कि शरीरी (जीवात्मा) शरीर से पृथक् है।

सुन्दर बूढ़ा होनेवाले शरीर में इसका भोग करनेवाला बैठा है। जीवात्मा देह बदलता रहता है।

श्रीकृष्ण ने इस प्रकार मृत्यु तथा हत्या के वास्तविक अर्थ बता दिये।

सुख-दुःख शरीर को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो सदा से है, शरीर के साथ नष्ट नहीं होता, वह इस शरीर से पृथक् है।

जब एक बालक यौवन और वृद्धता को प्राप्त होता है तो उसका जीवात्मा नहीं बदलता। इसी प्रकार जब देह छूटकर जीवात्मा नये शरीर में जाता है, तब भी वह नहीं बदलता।

जीवात्मा नित्य, अजर अर्थात् अमर है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था, ये राजा लोग नहीं थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे आत्मा के इस देह की कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था होती है (और जीवात्मा नहीं बदलता, वही का वही रहता है) वैसे ही एक देह छूटकर दूसरी प्राप्त हो जाती है। बुद्धिमान मनुष्य इससे मोहित नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कौन्तेय! (कुन्तिपुत्र अर्जुन)! इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न सर्दी-गर्मी तथा सुख-दुःख को तुम क्षणिक और अनित्य स्थिति समझकर उनको सहन करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! जिस सुख-दुख को समझने वाले धीर (संतुलित मन वाले) पुरुष को ये सुख-दुःख व्याकुल नहीं कर सकते, वह श्रेष्ठ पुरुष मोक्ष पाने के योग्य होता है।

(सुख-दुख से अभिप्राय पूर्व श्लोक में कहे शीतोष्ण आदि इन्द्रियों के सुख-दुख हैं।)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो वस्तु असत् (अनुपस्थित) है, उसका होना नहीं हो सकता और जो सत् अर्थात् उपस्थित है, उसका न होना नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषों द्वारा इन दोनों को ही तत्त्व से देखा गया है।[४]

---

४. सत् उन पदार्थों को कहा गया है जो अनादि तथा अजर (अमर) होते हैं। असत् उनको कहते हैं जो जिस रूप में दिखाई देते हैं, उस रूप में सदा नहीं रहते तथा नहीं रहे हों।

उदाहरण के रूप में लकड़ी का एक स्टूल है। यह असत् है। स्टूल को तोड़-फोड़कर लकड़ी के टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता है अथवा इसको चीर-फाड़कर उसमें से चौकी बनायी जा सकती है। अतः स्टूल असत् है। चौकी

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

नाशरहित उसको जानो जो यह सब जगत् में उपस्थित (ओत-प्रोत) है।

अथवा लकड़ी के टुकड़े भी तोड़े-फोड़े जा सकते हैं। लकड़ी को अग्नि में जलाकर राख किया जा सकता है। अतः लकड़ी के टुकड़े भी असत् हैं।

जब लकड़ी जला डाली जाती है तो वह 'कार्बनडाइ-आक्साइड' में बदल जाती है। इस कारण लकड़ी भी असत् है।

जल (water) में से विद्युत की तरंग गुजारें तो जल दो प्रकार की वायुओं-आक्सीजन तथा हाइड्रोजन में बदल जाता है। इसी प्रकार कार्बनडाइ-आक्साइड भी कार्बन तथा आक्सीजन में बदल जाते हैं। अभिप्राय यह कि जल तथा कार्बन-डाइ-आक्साइड भी असत् हैं।

कार्बन के बहुत छोटे-छोटे कण होते हैं, जिन्हें परिमण्डल (atom) कहते हैं। इसी प्रकार आक्सीजन के भी परिमण्डल होते हैं। ये परिमण्डल वस्तुतः कार्बन तथा आक्सीजन ही हैं। कारण यह कि उन्हीं के से गुण रखते हैं। परन्तु इन परिमण्डलों का भी विखण्डन होता है। सब प्रकार के परिमण्डल तीन प्रकार के कणों (particles) में बंट जाते हैं। उनको वैकारिक अहंकार (protons) तैजस् अहंकार (electrons) और भूतादि अहंकार (neutrons) कहते हैं।

इस प्रकार परिमण्डल (atoms) भी असत् हैं।

ये कण (particles) भी टूट सकते हैं और फिर परमाणु बन जाते हैं। सांख्यदर्शन में परमाणु साम्यावस्था में कहे हैं। यही प्रकृति कहाती है।

सांख्यदर्शन इसके स्वरूप का वर्णन अधिक स्पष्टता से करता है। [देखें लेखक का सांख्यदर्शन—सरल सुबोध भाषा-भाष्य, (संस्करण १९७६) पृष्ठ १०२-१०३ तथा लेखक की रचना विज्ञान और विज्ञान—संस्करण १९७६ (पृ०११०-१११।] अतः इलेक्ट्रोन इत्यादि कण भी असत् हैं।

परन्तु परमाणु (ultimate particles) का विखण्डन नहीं हो सकता। इस कारण परमाणु सत् हैं।

पूर्ण वैदिक साहित्य इस बात को स्वीकार करता है कि पदार्थों के परमाणु सत् हैं। वे नष्ट नहीं हो सकते। उनकी रूप-राशि स्थिर है। जब वे अकेले-अकेले होते हैं, तब भी और जब वे मिलकर अहंकार-परिमण्डल तथा संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थ बनाते हैं, तब भी वे (उनकी रूप-राशि) नहीं बदलती। वे भिन्न-भिन्न प्रकार के परिमण्डलों में भिन्न-भिन्न संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त होकर संसार के सब पदार्थ बनाते हैं।

इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।[५]

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। १८ ।।

अप्रमेय तथा नित्य शरीरी (जीवात्मा) के ये शरीर नाश होने वाले कहे गए हैं। इस कारण हे भारत (अर्जुन) ! युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

---

५. 'इदं सर्वमिदं ततम्' से अभिप्राय है यह सब संसार। यह परमाणु रूप प्रकृति पूर्ण संसार में विद्यमान है। यह सत् है। इसी कारण इसे अविनाशी कहा है। इस अविनाशी (परमाणु रूप प्रकृति) का कोई नाश नहीं कर सकता।

उपनिषद् में भी कहा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ।।

(छा० ६-२-१)

अर्थात्

हे सोम्य ! आरम्भ में यह एकमात्र सत् ही था। उसके विषय में ऐसा भी कहा है कि आरम्भ में वह एकमात्र असत् ही था। उस असत् से सबकी उत्पत्ति हुई।

उपनिषद्कार ने यह बताया था कि सत् से असत् और असत् से सत् ऐसा कहा जाता है। कौन पहले है और कौन पीछे, कुछ नहीं कहा जा सकता। जगत् से परमाणु और परमाणु से पुनः जगत् आदिकाल से यह क्रम चला आया है।

संयोग-वियोग एक-दूसरे के उपरान्त चलता रहता है, परन्तु जो बात विशेष है वह यह कि किसी एक पदार्थ के परमाणु उस पदार्थ के टूटने के उपरान्त पुनः उसी प्रकार मिलेंगे, नहीं कहा जा सकता। इस कारण बने पदार्थ असत् हैं।

यहाँ इस श्लोक में 'येन सर्वमिदं ततम्' का अर्थ अन्य भाष्यकारों ने यह सब संसार तो ठीक किया है, परन्तु तद्विद्धि का अर्थ परमात्मा कर दिया है। यह अशुद्ध है, क्योंकि यहाँ प्रकृति का वर्णन हो रहा है। परमात्मा का नहीं। और आत्मा का क्षेत्र यह शरीर है। इससे बाहर नहीं। अतः हम समझते हैं कि यहाँ सत्-असत् प्रकृति के दो रूपों का वर्णन हो रहा है। जो सत् है वह सब स्थान पर है। यह प्रकृति का वह स्वरूप है जो नित्य है अर्थात् परमाणु रूप है।

आगे के श्लोक में यह कहा है कि जो शरीर है वह असत् है। शरीर का रूप नष्ट होता है। इसका वह स्वरूप जो मूल प्रकृति का है, नष्ट नहीं होता। वह सदा बना रहता है।

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों अज्ञानी हैं। क्योंकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वाभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

यह जीवात्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। यह मर कर न तो फिर होनेवाला (जन्म लेनेवाला) है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नष्ट नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

हे पार्थ (पृथापुत्र अर्जुन) ! जो इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय (व्यय अर्थात् खर्च न होनेवाला) जानता है, वह पुरुष भला कैसे और किसको मारता है ?[६]

---

६. जब यह समझ आ जाये कि शरीर तो नष्ट होने वाला है तो फिर इसका नाश हो जाने से कुछ हानि नहीं होगी। क्योंकि यह कभी-न-कभी नष्ट होगा ही।

अभिप्राय यह है कि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य इत्यादि यदि मरते हैं तो इनके शरीर ही तो मरेंगे। वे तो वैसे भी मरेंगे ही क्योंकि वे नित्य नहीं हैं। और जो नित्य है, वह मरता नहीं।

तो फिर मरता क्या है ? मृत्यु, शरीर और आत्मा (नाशवान् और अविनाशी) के संयोग की समाप्ति ही है।

संयोग का टूटना अथवा बनना किसी उद्देश्य से होता है। यदि वह उद्देश्य जिससे शरीर और जीवात्मा का संयोग हुआ था, पूर्ण नहीं हो रहा अथवा वह संयोग धर्म का नाश कर रहा है तो उसके टूटने में कुछ हानि नहीं, लाभ ही होगा।

अर्जुन ने यह कहा था कि वह अपने परिवार के वृद्धजनों और गुरुजनों के रक्त से सना हुआ त्रिभुवन का राज्य भी नहीं लेना चाहता। उसके इस भ्रम को श्रीकृष्ण दूर कर रहे हैं।

वह कहते हैं कि ये 'महानुभाव' जीवात्मा और शरीर के संयोग के उद्देश्य का पालन नहीं कर रहे। ये आततायी हैं।

आततायी के लक्षण मनुस्मृति में किए हैं।

अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदार हरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ।। मनु० ८-३५० अ

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को प्राप्त होता है।[7]

आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र उठाने वाला, धन का अपहरण करने वाला, खेत तथा स्त्री को चुराने वाला—ये छः आततायी हैं—

और—

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
मनु० ८-३५१

आततायी को सबके सामने अथवा एकान्त में मारने में दोष नहीं। आततायी के केवल दोष प्रकट करना तो उसे और भी अधिक आततायी बनाना है।

दुर्योधन इत्यादि कौरवों ने पाण्डवों को उनकी माता सहित जीवित जला देने का यत्न किया था। उन्होंने पांडवों को विष भी दिया था। उनकी पत्नी द्रौपदी को भरी सभा में नग्न कर अपमानित किया था। अतः कौरव आततायी तो थे ही। इनकी रक्षा के लिए शस्त्रास्त्र लेकर आए भीष्म इत्यादि भी आततायी ही थे। क्योंकि वे आततायिों (कौरवों) के पक्ष में सैकड़ों-सहस्त्रों की हत्या करने के लिए युद्धभूमि में उपस्थित हुए थे।

और ये कितने बुद्धिमान तथा मान के योग्य हैं? यह इनका अपना ही कथन प्रकट करता है। महाभारत में लिखा है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥
महाभारत ६-४३-४१

भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्यादि का कथन ही है कि पुरुष धन का दास होता है, धन किसी का दास नहीं। इस कारण सत्य यह है कि धन द्वारा कौरवों से बँधा हुआ हूँ।

कृष्ण का कहना था कि ये लोग धर्म-अधर्म का तत्त्व नहीं पहचानते। ये धन के दास हैं। अतः इनको मारकर तुम पाप नहीं करोगे।

कृष्ण का आशय था कि इनके शरीर और जीवात्मा के संयोग का उद्देश्य मिथ्या हो गया है। अतः इस संयोग को समाप्त कर देने में कोई हानि नहीं है। और फिर इनके जीवात्माओं को नवीन शरीर ऐसे ही मिल जायेंगे जैसे पुराने वस्त्र त्यागने वाले को नये वस्त्र मिल जाते हैं।

७. जब वस्त्र शरीर के लिए हितकर नहीं रह गये अथवा गन्दे हो जाते

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसको आग जला नहीं सकती, इसको जल गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती।

यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, न गलने वाला है और सूखता नहीं। यह निःसन्देह नित्य है। सब शरीर के अंगों में इसकी गति है। अचल तथा स्थिर रहने वाला है।[8]

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह (जीवात्मा) अव्यक्त (इन्द्रियों का जो विषय न हो) है, अचिन्त्य है (मन का विषय नहीं है), न बदलने वाला (विकार रहित) है, ऐसा कहा जाता है। इस (जीवात्मा) को ऐसा जानकर इनका (आततायिों को मारने का) शोक करना उचित नहीं है।

हैं तो उनको उतारकर पृथक् कर दिया जाता है और नये वस्त्र जिनको पहनने से शरीर को सुख पहुँचे, पहन लिये जाते हैं। उसी प्रकार जब शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तो आत्मा शरीर को छोड़ देता है।

८. इस श्लोक २४ में एक शब्द है 'सर्वगतः'। इसका अर्थ कई भाष्यकारों ने सर्वव्यापक किया है। यहाँ यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि शरीर और उसके जीवात्मा की बात हो रही है। जो जीवात्मा एक शरीर में रहता है, वह सर्वव्यापक नहीं हो सकता।

दर्शनशास्त्र कहता है कि जब एक शरीर देखता, सुनता अथवा चखता है उस समय दूसरे शरीर का जीवात्मा ऐसा नहीं कर रहा होता। यदि जीवात्मा सर्वव्यापक होता तो एक जीव के आनन्द भोगने पर सब मनुष्यों को आनन्द की अनुभूति होती।

अतः 'सर्वगतः' का अर्थ सर्वव्यापक (परमात्मा) नहीं, प्रत्युत वह आत्मा है जो शरीर के सब अंगों में व्याप्त है अर्थात् जिसकी उनमें गति (पहुँच) है।

यहाँ प्राणी के शरीर तथा जीवात्मा का वर्णन हो रहा है, परमात्मा का वर्णन नहीं है।

परमात्मा भी सर्वगतः है, परन्तु जब और जहाँ जीवात्मा और शरीर का वर्णन होगा, वहाँ अभिप्राय आत्मा से होगा।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू इसको (मनुष्य को) सदा उत्पन्न होने वाला और मरने वाला मानता है तो भी, हे अर्जुन ! (इनकी मृत्यु पर) शोक करने की आवश्यकता नहीं है। (ये पुनः उत्पन्न हो जायेंगे)।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि जो जन्म लेता है उसकी निश्चित मृत्यु होती है और मरने वाले का निश्चित जन्म होता है ऐसा सिद्ध है। इस कारण (भी) तू ऐसे विषय में जिसमें तेरा वश नहीं, शोक करने योग्य नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे अर्जुन ! आदि में सब प्राणी अव्यक्त (शरीररहित) थे। बीच में वे व्यक्त (दिखाई देने वाले) हो गये। मृत्यु के बाद में फिर अव्यक्त (शरीर रहित) हो जायेंगे। (जब ऐसी स्थिति है) तो फिर इस (मरने मारने के विषय) में चिन्ता किस बात की है ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इस (जीवात्मा) को आश्चर्य के समान देखता है। कोई इसको आश्चर्य के समान कहता है और दूसरा इसको एक आश्चर्यवान् वस्तु की भाँति सुनता है, और कोई इसको सुनकर भी नहीं जानता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! यह (आत्मा) सबके शरीर में सदा ही न मारा जाने योग्य है (अर्थात् मारा नहीं जा सकता)। इस कारण सब प्राणियों के लिए भी शोक करने के योग्य नहीं है। शोक करने की आवश्यकता नहीं है)।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और अपने (क्षत्रिय में उत्पन्न हुए) धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है (तुझे भय करने की आवश्यकता नहीं है) क्योंकि क्षत्रिय के लिए

धर्म की स्थापना के लिए युद्ध करने से अन्य कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं है।[६]

---

६. क्षत्रिय के कर्म क्या हैं, इस विषय में मनुस्मृति में इस प्रकार कहा है—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।

(मनु० १-८९)

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, स्वाध्याय करना—ये राजा के कार्य हैं।

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ।

(मनु० ७-१७)

राजा ही दण्ड होता है। वह शक्तिशाली नेता है तथा चारों वर्ण उससे शासित होते हैं।

जब दुर्योधन इत्यादि अधर्मयुक्त व्यवहार करने लगे तो कृष्ण ने अर्जुन को क्षत्रिय धर्म और राज धर्म का स्मरण कराया और कहा कि तुम दोनों प्रकार से इन सामने खड़े अधर्मियों को दण्ड देने के योग्य हो।

जो लोग गीता को निवृत्ति मार्ग का ग्रन्थ मानते हैं, वे यहाँ स्वधर्म का अर्थ गृहस्थ धर्म मानते हैं। बालगंगाधर तिलक इस श्लोक पर टिप्पणी लिखते हुए कहते हैं—

'संन्यास अथवा सांख्य मार्ग के अनुसार यद्यपि कर्म-संन्यास (कर्मों का त्याग) रूपी चतुर्थ आश्रम अंत की सीढ़ी है तो भी मनु···के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्मण धर्म और क्षत्रिय को क्षत्रिय धर्म का पालन कर गृहस्थ आश्रम पूरा करना चाहिए। अतएव इस श्लोक का और अगले श्लोक का तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रम अर्जुन को युद्ध करना आवश्यक है।" (गीता रहस्य : टिप्पणी-२-३१)

हम समझते हैं कि यहाँ स्वधर्म और स्वधर्मों का अर्थ श्लोक (२-३१) में कहे "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो···न विद्यते" से ही अभिप्राय है।

संन्यास, जैसी तिलक जी ने कल्पना की है, केवल ब्राह्मण प्रवृत्ति (स्वभाव) वालों के लिए ही है और ब्राह्मण तो गृहस्थ धर्म में भी युद्ध के लिए विवश नहीं किये गये।

सब सभ्य देशों और सभ्य समाजों में मानव-हत्या घोर पाप माना गया है। इस अपराध का घोर दण्ड नियत किया गया है। परन्तु कृष्ण ने युद्ध में हत्या को न केवल धर्म ही माना है वरन् उसे स्वर्ग-प्राप्ति में साधन समझा है। यह इस कारण कि कृष्ण के विचार में धर्म की स्थापना परम कल्याण का कार्य है।

मरना-जीना तो चलता ही रहता है, परन्तु अधर्मयुक्त जीवन तो नरक से भी अधिक कष्ट तथा दुःख का कारण होता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।
अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

हे पार्थ ! यह युद्ध अपने आप प्राप्त होने से खुले हुए स्वर्ग के द्वार के समान है। ऐसे युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही प्राप्त करते हैं।

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो तू (अपने क्षत्रिय वर्ण के तथा राज कुल में उत्पन्न होने के धर्म का पालन करने से) स्वधर्म को तथा कीर्ति (ख्याति) को खोकर पाप का भागी नेगा।

और सब लोग अनन्तकाल तक तेरी अपकीर्ति (बदनामी) करेंगे। यह अपकीर्ति एक मान्य पुरुष के लिए मृत्यु से भी बुरी बात है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

और वे महारथी जो तुझको बहुत मानते हैं, (युद्ध छोड़ने पर) उनके सम्मुख तू छोटा हो जायेगा। वे लोग तुझे रण में भय के कारण भागा हुआ समझेंगे।

वे और तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे। वे तुम्हें न कहने योग्य वचन कहेंगे। फिर इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होओ अथवा विजयी होकर इस पृथ्वी का भोग भोगो। इससे हे कुन्ती पुत्र ! उठो और कृतसंकल्प होकर युद्ध करो।

सुख-दुख, लाभ-हानि को समान-समझकर युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। ऐसे युद्ध को करता हुआ तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९।।

हे अर्जुन ! यह बुद्धि (ज्ञान) जो सांख्य के अनुसार मैंने तुझे कही है, अब यही बुद्धि मैं तुझे योग के अनुसार कहूँगा, जिसके ज्ञान से तू कर्म-बन्धन को नष्ट कर सकेगा।[10]

---

१०. यहाँ सांख्य से अभिप्राय सांख्य विद्या है, जिसका वर्णन कपिल मुनि ने अपने सांख्य दर्शन में किया है। सांख्य दर्शन कहता है···

शरीर देही से भिन्न है। शरीर परमाणुओं के संयोग से बनता है। आत्म-तत्त्व शरीर में एक अविनाशी तत्त्व है।

शरीर न कर्त्ता है, न भोक्ता है। कर्म करने वाला जीवात्मा है और कर्मफल का भोगने वाला भी जीवात्मा ही है।

इस दृष्टि से बताया है कि जीवात्मा जिस शरीर से बुरे कर्म करता है, उससे वह शरीर छीन लेना ही धर्म है और ऐसा करने वाला पुण्य फल का भागी होता है।

यह इसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति कहीं से तलवार पा जाये और सामने आने वालों की हत्या करने लगे तो उसके हाथ से तलवार छीन लेना पाप नहीं होगा।

इसी प्रकार यदि दुष्ट स्वभाव वाला जीवात्मा अपने सबल शरीर से बुरे कर्म करने लगे तो उससे उसका शरीर छीन लेना चाहिए। यही उसका वध करना है।

इस प्रकार अभी तक कृष्ण ने सांख्य ज्ञान की दृष्टि से समझाया कि युद्ध करने में पाप नहीं, वरन् धर्म की स्थापना के लिए युद्ध किया जाये तो यह स्वर्ग प्राप्त कराने वाला है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गीता का इतना प्रवचन तो श्रीकृष्ण ने प्रायः इन्हीं शब्दों में अथवा कुछ न्यूनाधिक शब्दों में रणभूमि पर दिया था।

गीता के सब ७०० श्लोक रणभूमि पर कहे नहीं गये होंगे। ये कहे-जाने सम्भव भी नहीं थे।

हमारा मत है कि यह सांख्य की दृष्टि से युद्ध का निरूपण इतना प्रबल है कि किसी नपुंसक से भी नपुंसक को धर्म पर आरूढ़ करने के लिए तैयार कर सकता है।

गीता का शेष भाग व्यास जी ने अपने आश्रम में बैठकर युद्ध से तीस वर्ष उपरान्त महाभारत ग्रन्थ की रचना करते समय लिखा प्रतीत होता है।

युद्धभूमि में पहुँच एक वीर योद्धा का मन विचलित हो उठा था। एक ही परिवार के दो अंगों में युद्ध होने जा रहा था। इस कारण दोनों पक्ष के लोग परस्पर जानते-पहचानते और रक्त से सम्बन्धित थे। यही कारण था कि अर्जुन के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह विचार करने लगा कि अपने सगे-सम्बन्धियों

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

कर्मों का क्रम नष्ट नहीं होता। (कर्मफल उलटकर कर्म कराता है, वह क्रम समाप्त नहीं होता)। इस कारण इस (कर्म योग) का थोड़ा-सा भी प्रयोग बहुत बड़े पाप के भय से बचा देता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन (अर्जुन)! निश्चयात्मक बुद्धि एक ही होती है और अनिश्चयात्मक बुद्धियाँ कई होती हैं। इसकी कई शाखाएँ होती हैं अर्थात् यह बहुत भेदों वाली होती है।[11]

की हत्या कर राज्य-भोग प्राप्त भी किया तो उसका क्या लाभ होगा ?

इस मोह को छुड़ाने के लिए ही कृष्ण ने (श्लोक २-१२ से २-३९ तक का) उपदेश दिया था।

युद्धभूमि में इतना समझाना पर्याप्त था, परन्तु जब व्यास जी युद्ध समाप्त होने के तीस वर्ष उपरान्त और जब युधिष्ठिर इत्यादि का स्वर्गारोहण हो चुका था, महाभारत ग्रन्थ लिखने लगे तो गीता के शेष अध्याय लिखे गये। पहला अध्याय तो संजय द्वारा कहा गया इतिहास है। दूसरे अध्याय के ये श्लोक ही श्री कृष्ण ने युद्धभूमि में कहे प्रतीत होते हैं।

वही बात, जो कृष्ण ने रणभूमि में खड़े-खड़े बतायी थी, उसे अब एक-दूसरे ढंग से बताया गया है।

कर्म और कर्मफल के विषय में गीता में कहा है कि इसका फल अवश्य मिलता है, इसी जन्म में अथवा भावी जन्म में। फल भोगते समय मनुष्य पुनः कर्म करता है। उन कर्मों का फल भोगने के लिए जीवात्मा पुनः जन्म ले लेता है और पुनः फल भोगता हुआ कर्म करता है। इस प्रकार कर्मों और कर्मफल की शृंखला चल पड़ती है। इससे छूटने का उपाय ही इस गीता के शेष भाग में बताया है।

श्री तिलक श्लोक २-३९ की टिप्पणी में लिखते हैं कि इस श्लोक में सांख्य से अभिप्राय सांख्यदर्शन नहीं।

हम समझते हैं कि सांख्य है सायन्स (Science) अर्थात् विज्ञान। कपिल का सांख्य भी इसी विद्या का वर्णन करता है। जो कुछ भगवद्गीता (२-२८ से २-३९ तक) में कहा है, वह सांख्यमतानुसार अर्थात् कपिल के सांख्य दर्शनानुसार ही कहा है।

११. निश्चयात्मक बुद्धि एक ही होती है, अनिश्चयात्मक बुद्धियाँ अनेक

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

हे पार्थ ! कामनाओं से युक्त (कामात्मानः), ज्ञान की (डींग) हाँकने वाले (प्रवदन्त्यविपश्चितः) अविवेकीजन स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले, इस जन्म में ही कर्मफल को मानने वाले, भोग तथा ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए बहुत-सी ऊँच-नीच की सुन्दर लुभायमान बातें करते हैं।

(उनकी) ऐसे पुरुषों की वाणी चित्त को हरने वाली (लुभाने वाली) भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्ति करने वाली होती है। ऐसे लोगों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।

अभिप्राय यह है कि जो जन भोग और ऐश्वर्य में लीन रहते हैं उनकी बुद्धि अस्थिर रहती है।[12]

दिशाओं को जाने वाली होती हैं, इस कारण निश्चयात्मक बुद्धि प्राप्त करनी चाहिए। इस निश्चयात्मक बुद्धि को 'स्थिर बुद्धि' कहते हैं।

१२. शंकर इत्यादि भाष्यकारों ने यहाँ वेद का अर्थ वेदों (ऋक्, यजु, साम इत्यादि) से किया है। हम यह बता चुके हैं कि ऐसा नहीं है।

श्लोक (२-४२) में शब्द 'वेदवादरताः' का अभिप्राय सांसारिक ज्ञान से है, ऋक्, यजुः सामादि वेदों से नहीं।

बालगंगाधर तिलक इस (२-४२) का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

हे पार्थ (कर्म काण्डात्मक) ! वेदों के (फल श्रुतियुत,) वाक्यों के भूले हुए और यह कहने वाले मूढ़ लोग—इत्यादि।

लगभग यही अर्थ स्वामी शंकराचार्य ने किये हैं। वस्तुतः वेद में कर्म-काण्ड कहीं नहीं हैं। कर्मकाण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों में है और ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं। साथ ही वेद का अर्थ ज्ञान भी है और ये अर्थ ही यहाँ ठीक हैं।

अतः 'वेदवादरताः' का अर्थ है ज्ञानवादी जो संसार में रत हैं। जैसे वर्तमान युग के सायंसदान कहे जा सकते हैं। सांसारिक ज्ञान में रत वे वैज्ञानिक परमात्मा के अस्तित्व को कहीं नहीं देखते। वे पुनर्जन्म को भी नहीं मानते। ये बातें प्रत्यक्ष में नहीं आतीं। इस कारण वे जन्म मरणपर्यन्त ही सब जीवन लीला और इसके फल को समझते हैं। ये लोग कामनाओं से युक्त अव्यवसायात्मक बुद्धि रखते हैं,

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! इन ज्ञानियों (वैज्ञानिकों) का विषय त्रिगुणात्मक (प्रकृति) का है। तू इन तीन गुणों की (प्रकृति) से ऊपर उठ (इससे बाहर हो जा)। द्वन्द्वों से रहित होजा और सत्त्वस्थ होकर योग क्षेम से विमुक्त होकर आत्मवान् बन।[13]

जो स्थिर नहीं और अनेक दिशाओं में जाती है।

यहाँ वेद का अभिप्राय ऋक्, यजुः, साम इत्यादि नहीं है। वेद तो जीवात्मा और कर्मफल को मानते हैं। यह निम्न वेदमन्त्रों से स्पष्ट हो जायेगा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥
(ऋ० १-१६४-२०, २१, २२)

अर्थात्—प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो सुपर्ण (आत्म तत्त्व) हैं। दोनों सजातीय हैं और सखा हैं। इसमें से एक (आत्म तत्त्व) इस वृक्ष के फल स्वाद से खाता है और दूसरा आत्म तत्त्व केवल देखता है।

जो सुपर्ण (आत्म तत्त्व) ज्ञान से युक्त होकर निरन्तर मोक्ष का अधिकार पाना चाहता है, वह भुवनों के रक्षक परमात्मा से कहता है कि मुझ बुद्धिमान और ज्ञान से परिपक्व को मुक्त करो।

और वृक्ष के समस्त फलों का भोग जो आत्म तत्त्व स्वाद से करता है और सन्तान उत्पन्न करता है, कहा जाता है, उसको उस (परमात्मा) का ज्ञान नहीं होता।

अतएव हमारा यह मत है कि श्लोक २-४२ में वेद वादरताः का अभिप्राय है विज्ञानवादी (आजकल के सायंसदान) जो संसार में रत हैं।

१३. प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है तो जगत्-रचना होती है। साम्यावस्था भंग होने का अर्थ ही है कि गुण जो पहले परस्पर शान्त थे, साम्यावस्था के भंग होने पर वे तीनों गुण बाहर निकल अपना प्रभाव चारों ओर फैलाने लगते हैं इसी कारण जगत् के सब पदार्थ त्रिगुणात्मक कहाते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा—यहाँ भी 'वेदा' से अभिप्राय ऋक्, यजु, साम

यावानर्थ उदपाने सर्वतःसंप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

सब ओर से परिपूर्ण (किनारों तक) जल से भरे हुए सरोवर की प्राप्ति पर जो प्रयोजन एक टोंबड़ी (किसी गड्ढे में भरे जल) से हो सकता है, वही प्रयोजन विशाल ब्रह्म का ज्ञान रखने वाले का इस जगत् का ज्ञान रखने वालों से है।[14]

इत्यादि वेद नहीं है। इसका अर्थ है जानने वाले अर्थात् वैज्ञानिक। त्रिगुण-विषय का अभिप्राय है कि प्रकृति के परमाणुओं के भीतर जो तीन गुणों वाली शक्ति है, वह प्रकट होकर चराचर जगत् के सब पदार्थों को त्रिगुणात्मक बना देती है। उन पदार्थों के इन गुणों के कारण उनको त्रिगुणात्मक कहा जाता है। जो लोग इन पदार्थों के स्वादों के मोह में फंस जाते हैं, वे 'त्रैगुण्यविषया वेदा' माने जाते हैं; तीन गुणों के मोह में फँसे हुए इन गुणों को जानने वाले कहे जाते हैं।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि इन गुणों से पृथक् हो जा, द्वन्द्वों से रहित हो जा, और योग क्षेम से युक्त होकर आत्मवान् बन अर्थात् अपने आत्मा में विश्वास रख।

१४. चारों ओर से भरे-सरोवर की तुलना पूर्ण व्योम, जहाँ तक भी यह है, से की गई है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसमें हमारी पृथिवी है। इस सौरण्मडल का ज्ञान वैज्ञानिकों को है।

हमारा सौरमण्डल आकाश-गंगा का कई लाखवाँ भाग है अर्थात् सौर-मण्डल आकाश-गंगा से कई लाख गुणा छोटा है। उस सौर-मण्डल में हमारी पृथिवी ऐसी है जैसी प्रशान्त महासागर में टैनिस का एक गेंद। इस पृथिवी के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं।

व्योम तो असीम है। उसमें हमारी आकाश-गंगा की भाँति कई गंगाएँ हैं। लगभग दो सौ आकाश-गंगाएं देखी जा चुकी हैं और व्योम तो उससे भी बहुत बड़ा है।

वह व्योम ही परम ब्रह्म कहाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है…

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्मकरना तो तेरा अधिकार है। इसके फल में कभी (अधिकार) नहीं। तू अपने कर्मों के फल को अपना हेतु न बना। न ही अकर्म (कर्म न करने) में प्रीति रख।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे अर्जुन! योगयुक्त होकर मोह को छोड़ कर कर्म कर। सिद्धि-असिद्धि (सफलता असफलता) में सम भाव से कर्म कर। यह सम भाव ही योग कहा जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे अर्जुन! बुद्धि से विचारित कर्म से दूर कर्म अति तुच्छ है इसलिए बुद्धि (सम बुद्धि) की शरण ग्रहण कर क्योंकि फल के हेतु से किया कर्म अत्यन्त हीन है।[15]

अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥
(श्वे० उप० १-६, ७)

अर्थात इस बड़े ब्रह्म चक्र में जीव फंसे हुए हैं जैसे भंवर में हंस भ्रमित हुआ रहता है। तब अपने से पृथक् एक आत्मा (परमतत्त्व) को मानता है। जब जीव उस (परमात्मा) से संयुक्त हो जाता है तब अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

यह जो ऊपर कहा है, वह परम ब्रह्म है। उसमें तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं। इन तीन अक्षरों के अतिरिक्त वे भी हैं जो ब्रह्म ज्ञानी कहे जाते हैं और योनि (जन्म मरण) से मुक्त हैं, वे ब्रह्मलीन कहे जाते हैं।

अतः यह विशाल सागर परम ब्रह्म है, यह व्योम है। उसमें हमारी पृथिवी जिसका ज्ञान (वैज्ञानिक जो इस दुनियाँ को ही 'पुष्पितां वाचं' कहते हैं) उस गड्ढे के जल के ज्ञान के तुल्य है।

१५. बुद्धियोगात् का अभिप्राय है बुद्धि के सहाय से; दूरेण (दूर) होकर किया गया है जो कर्म—ऐसा कर्म अति तुच्छ होता है।

कृष्ण ने अभी तक अर्जुन को बताया है कि···

अ. बुद्धि निश्चयात्मक होनी चाहिये। भटकने वाली बुद्धि न हो।

आ. सांसारिक ज्ञान सम्पूर्ण ब्रह्म (व्योम) के ज्ञान की तुलना में इसी प्रकार

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धिशील व्यक्ति अच्छे-बुरे दोनों फल वाले कर्मों (अर्थात् सुखकारक अथवा दुःखकारक कर्मों) को यहीं त्याग देता है। इस कारण तू इस बुद्धि (समभाव) के लिये प्रयत्न कर। कर्मों में कुशलता ही योग (समभाव वाली बुद्धि) है।[16]

है जैसे सागर की तुलना में एक जल की टोंबड़ी।

इ. अनिश्चयात्मक बुद्धि में कारण जगत् के स्वाद हैं। वे लोग जो इस जीवन को ही सब कुछ मानते हैं, वे ही इस संसार के प्रलोभनों में फंसे हुए भटकने वाली बुद्धि पा जाते हैं।

ई. कर्म करने के लिये ही मनुष्य जीवन मिलता है। कर्म करना मनुष्य का अधिकार है परन्तु फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये। यह उसके अधिकार में नहीं है। फल कैसे मिलता है, यह एक विषम समस्या है।

उ. फल की इच्छा कैसे छोड़ी जा सकती है? उसके लिये ही कहा है कि कर्म करते समय विचार कर कर्म करो। विचारित कर्म ही 'बुद्धियोगात्' है।

१६. 'जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' के अर्थों में बहुत गड़-बड़ की गयी है। स्वामी शंकराचार्य अर्थ इस प्रकार करते हैं कि बुद्धि के सहाय से कर्म करने वाला पुरुष पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर देता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि मनुष्य सब कर्म छोड़ता है साथ ही पुण्य कर्म भी छोड़ देता है।

गीता का ऐसा अभिप्राय नहीं है। सुकृत का अर्थ है अच्छे सुखकारक फल वाले कर्म और दृष्कृत का अभिप्राय है दुःख उत्पन्न करने वाले कर्म।

श्लोक २-४८ में 'सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा' पद द्वारा इसे स्पष्ट कर चुके हैं। सफलता सुखकारक होती है और असफलता दुःखकारक होती है। अतः किसी कर्म से सुख प्राप्त होता है तथा किसी कर्म से दुःख अथवा कष्ट प्राप्त होता है, इसका विचार छोड़कर बुद्धि से जो ठीक कर्म समझ आता है, वह करना चाहिये। ऐसा करने वाला कर्म करने में कुशल समझा जायेगा।

अतः लोगों को कष्ट देने वाले पाप कर्म के साथ लोकहित के कर्म भी छोड़ दे, ऐसा अर्थ करना गलत अर्थात् अशुद्ध है।

सुकृत का अर्थ है कि वे कर्म, जिनसे सुख के मिलने की आशा हो और दुष्कृत का अभिप्राय है वे कर्म, जिनसे दुःख अथवा कष्ट की आशंका हो। कर्म छोड़ने की बात नहीं वरन् फल की इच्छा के त्याग की बात है।

एक विद्यार्थी अपनी बुद्धि से यह विचार करता है कि उसे संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परन्तु संस्कृत भाषा पढ़ने में कष्ट बहुत अधिक है। उसकी अपेक्षा हिन्दी पढ़ना सुगम है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

मनीषी (ज्ञानीलोग) बुद्धि के सहाय से किये कर्मों से उत्पन्न होने वाले फ ों का त्याग करते हैं और जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर निर्मल पद को प्राप्त करते हैं ।

(अभिप्राय यह है कि फल की इच्छा के विना निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धनों से छूट जाते हैं ।)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

जब बुद्धि मोह रूपी दलदल को पार कर जाती है तब तू न सुने हुए को और न जाने हुए को प्राप्त होगा ।[१७]

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३।।

विविध प्रकार की सम्मतियों से अस्थिर हुई बुद्धि जब समाधि से अचल (स्थिर) हो जायेगी है, तब तू बुद्धि योग को प्राप्त होगा ।

अभिप्राय यह है कि इन सुनी हुई, सुनी जाने वाली अथवा सुनने योग्य सम्मतियों को छोड़कर समाधि अवस्था में होकर जब निश्चल बुद्धि से विचार करेगा

जब बुद्धि ने विचार किया कि संस्कृत पढ़नी चाहिए, तब पढ़ाई सुखकारक है अथवा कष्टकारक, इसका विचार छोड़ कर संस्कृत अध्ययन में लग जाना चाहिए। यह इस कारण कि बुद्धि के योग (सहाय) से यह जाना है कि संस्कृत पढ़नी चाहिए।

१७. बुद्धि की इतनी महिमा बता कर (श्लोक ५२ में) यह कहा है कि बुद्धि जब मोह रूपी दलदल में फँस जाती है तब यह ठीक पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती। इस कारण मोह को छोड़ कर तू अज्ञान ज्ञान को भी पा जायेगा ।

श्लोक २-५२ में शब्द है 'निर्वेदं—न कहा हुआ । श्रोतव्य—सुनने योग्य और श्रुतुस्य—सुने हुए का ।

भिन्न-भिन्न लोग किसी कार्य के आरम्भ में कई प्रकार की सम्मतियां देते हैं। कुछ बातें सुनी होती हैं, कुछ सुनने योग्य कही जाती हैं और कुछ नहीं सुनी हुई भी सुनने में आ जाती हैं ।

इन विभिन्न सम्मतियों में किसको माने और किसको न माने ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इससे बुद्धि विभ्रम में फँस जाती है, इस पर भी गीता का मत है कि सब की सुनो, परन्तु करो वही जो तुम्हारी बुद्धि को ठीक प्रतीत हो ।

तो बुद्धि योग को प्राप्त होगा ।[१८]

---

१८. समाधि का अर्थ भी समझ लेना चाहिये । किसी भी समस्या पर विचार करने के तीन स्तर योग दर्शन में बताये हैं—धारणा, ध्यान और समाधि ।

जब मनुष्य किसी कार्य को करना चाहे और उसके विषय में विचार करने लगे तो विचार का प्रथम पग है, धारणा ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।।

योग० ३-१ ।।

अभिप्राय यह है कि यह समझा जाये कि क्या करने जा रहा है। यह निश्चय किया कि संस्कृत भाषा पढ़नी है। क्यों पढ़नी है ? इसके पढ़ने से क्या लाभ होगा ? यह कैसे पढ़ी जायेगी इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करना धारणा है। चित्त को देश (विषय) के साथ बांधना धारणा है ।

जब कार्य के विषय का ज्ञान हो जाये तब दूसरा पग उठाया जाता है। वह है ध्यान ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।।

योग० ३-२ ।।

वहाँ अर्थात् उस देश (विषय में एकतानता एकमयता अर्थात् लीनता) हो जाने को ध्यान कहते हैं ।

जब समझ लिया कि संस्कृत भाषा पढ़नी है, कहाँ जाकर और किस प्रकार तथा किस गुरु से पढ़नी है, तो फिर पढ़ने में लय हो जाना, ध्यानावस्थित होना है। मनुष्य अपने कार्य में लीन हो जाये, अन्य सब कार्यों को भूल जाये, यह है ध्यान।

अब तीसरा और अन्तिम पग है समाधि ।—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।।

योग० ३-३

उस (विषय) मात्र का ही आभास होता है। अन्य सब कुछ शून्य की भाँति हो जाये तब समाधि होती है ।

संस्कृत भाषा पढ़नी है, यह समझ लिया । अन्य सब कार्य छोड़ कर पढ़ने के लिये लग गये । और फिर संसार की अन्य सब बातों को भूल गये । केवल कार्य (संस्कृत पढ़ना) ही ध्यान में रह गया, वही समाधि है ।

गीता के प्रवक्ता ने युद्ध जैसे घोर कर्म को करने में युक्ति इस प्रकार दी है ।—

कर्म मनुष्य को इस संसार से बाँधता है । कर्म का फल प्राप्त होता है। फल प्राप्त करते हुए मनुष्य पुनः कर्म करता है । इसका भी फल मिलता है। इस प्रकार कर्म—कर्मफल—कर्म—कर्मफल, यह एक बन्धनयुक्त प्रक्रिया—कर्म

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

अर्जुन प्रश्न करता है—

हे केशव ! समाधि में स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का क्या लक्षण है ? स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता अथवा कैसे चलता है ?[19]

अर्जुन का प्रश्न है—स्थित प्रज्ञ क्या होता है ? ऐसे व्यक्ति की बुद्धि कैसी होती है। वह व्यक्ति, क्या विचार करता है, वह क्या करता है कैसे चलता है कैसे बैठता है इत्यादि।

जिस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर होती है वह अपने कर्मों को ऐसे करता है जिससे वे कर्म उसे कर्मों के चक्र में बांधते नहीं। प्रश्न किया गया है कि वह बुद्धि (विचारित कर्म विधि) क्या है ?

भगवान उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

श्री कृष्ण कहते हैं—

हे अर्जुन ! जब (मनुष्य) सब कामनाओं को त्याग देता है, उस समय आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट हुआ मनुष्य स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दुःखों की स्थिति में जो मन क्लेश अनुभव नहीं करता और सुखों की स्थिति से मोह नहीं करता, राग तथा भय और क्रोध से रहित मुनि (मननशील व्यक्ति) स्थित प्रज्ञ कहाता है।

तथा फल की श्रृंखला—बन जाती है। श्रृंखला के बन्धन से मुक्त होने का उपाय कुछ ऐसा होना चाहिये कि कर्म तो किया जाये, परन्तु कर्मफल से मुक्ति मिल जाये।

इसी के लिये गीता कहती है कि बुद्धियुक्त होकर कर्म कर। अभिप्राय यह है कि विचार कर और कर्मफल की अकांक्षा से रहित होकर कर्म कर। इसे बुद्धि-योग कहा है। बुद्धियोग से जो कर्म किया जायेगा, वह श्रेष्ठ होगा।

१९. परन्तु भिन्न भिन्न मनुष्यों की बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इस पर गीता कहती है कि जब समाधि में होकर बुद्धि से योग करेगा तो फिर बुद्धि धोखा नहीं देगी। वह बुद्धि स्थिर बुद्धि कहाती है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

जो मनुष्य स्नेह रहित हुआ है, शुभ तथा अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है, न ही किसी से द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगांनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

और यह (ऊपर के श्लोक में वर्णित मनुष्य) अपनी इन्द्रियों को विषयों से ऐसे समेट लेता है जैसे कछुआ अपने सब अंगों को अपनी पीठ के नीचे समेट लेता है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि स्थिर कही जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

विषयों से पृथक् हुए मनुष्य के विषय तो निवृत हो जाते हैं, परन्तु मन से विषयों का रस (विषयों की स्मृति) नहीं छूटता।

परन्तु इस (स्थित प्रज्ञ पुरुष) का राग (अर्थात् विषय की स्मृति) भी छूट जाती है।[20]

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

बुद्धिमान मनुष्य के यत्न करने पर भी ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलपूर्वक उसके मन को हर लेती हैं (विवश कर देती हैं)।

इससे उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके योग युक्त हो मेरे (ईश्वर के) परायण करदे। क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।[21]

---

२०. राग का अभिप्राय है विषय के स्वाद की मन में स्मृति। बाहरी रूप में विषयों का सेवन छूट जाने पर भी विषयों के स्वाद मन में बने रहते हैं। परन्तु स्थिर बुद्धि वाले की यह स्मृति भी छूट जाती है।

श्लोक में एक शब्द है परम्। परम का अर्थ है जो परे (दूर) है। यहाँ अभिप्राय है मन से परे। परम् का अर्थ श्रेष्ठ भी है। इस दृष्टि से भी बुद्धि मन से श्रेष्ठ है। हमारे विचार में यहाँ स्थित प्रज्ञ की 'बुद्धि योगात्' से व्याख्या हो रही है। इस कारण परम् का अर्थ बुद्धि है।

२१. इस श्लोक में शब्द है 'मत्पर'। 'मत्परः' का अर्थ है मेरे परायण।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगांत्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।
क्रोधादभवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। इस आसक्ति से कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामनओं (के न पूर्ण होने) से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोध से मूढ़ता (बुद्धिभ्रष्टता) उत्पन्न होती है। बुद्धि के भ्रष्ट होने से स्मरण शक्ति विलुप्त हो जाती है। स्मृति के विनाश होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

राग (विषयों से आसक्ति अर्थात् लगन) तथा द्वेष (किसी से वैर) से रहित एवं वश में हैं इन्द्रियाँ जिसकी, ऐसा पुरुष विषयों को भोगता हुआ भी संतोष तथा प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

उस प्रसाद (संतोष और प्रसन्नता) की प्राप्ति पर ऐसे पुरुष के सब दुःखों का नाश हो जाता है। ऐसे प्रसन्नचित व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।[२२]

यह गीता की प्रवचन शैली है। इसका स्पष्टिकरण महाभारत अश्वमेध काण्ड में किया गया है। वहाँ कृष्ण ने कहा है कि गीता का प्रवचन मैंने योगयुक्त अवस्था में किया था। उस समय मैं ऐसे कह रहा था जैसे मानो परमात्मा मुझमें बैठकर कह रहा हो।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ कृष्ण ने 'मैं, मेरा' इत्यादि शब्द प्रयोग किए हैं, वहाँ उसका अभिप्राय परमात्मा, परमात्मा का ही है। अतः मेरे परायण का अर्थ ईश्वर के परायण समझना चाहिए।

इन्द्रियों का दमन अति कठिन कार्य है। यह भगवत् कृपा के बिना सम्भव नहीं। इसी कारण कहा है कि इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिए परमात्मा के सहाय की आवश्यकता है।

जब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं तो मनुष्य स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।

२२. स्थित प्रज्ञ (स्थिर बुद्धि) का ही वर्णन चल रहा है। जब इन्द्रियाँ मन

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

ऐसे अयुक्त (जो ऊपर कहे अनुसार कर्म से सम्बन्धित नहीं, ऐसे बुद्धि से रहित व्यक्ति) में भावना (कर्म करने की इच्छा) नहीं होती और भावनारहित व्यक्ति के चित्त में शान्ति नहीं होती। अशान्त चित्त व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?[२३]

और जीवात्मा में परस्पर सम्बन्ध बनाती हैं, तब ज्ञान होता है और फिर कर्म होता है।

ज्ञानेन्द्रियों से विषय का ज्ञान मन को जाता है,। मन जीवात्मा के समीप स्थित होने के कारण मन से ज्ञान जीवात्मा को प्राप्त होता है। उस ज्ञान के आधार पर जीवात्मा कामना करता है और कामना से प्रेरित वह मन को कर्म करने की प्रेरणा देता है। तब मन के आदेश से कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं।

इस पूर्ण प्रक्रिया में यदि आत्मा कामनाओं से रहित हो जाये तो कर्म में मोह नहीं रहता।

उदाहरण के रूप में किसी सुन्दर वस्तु को आँखें देखती हैं। उस वस्तु के सौन्दर्य का ज्ञान चक्षु से मन को और मन से जीवात्मा को होता है। तब जीवात्मा में उसको प्राप्त करने की कामना होती है। यह राग है। वस्तु की प्राप्ति न होने पर द्वेष उत्पन्न होता है।

अतः यदि राग उत्पन्न न हो तथा न ही प्राप्ति न होने पर द्वेष उत्पन्न हो तो फिर विषय प्राप्त होने पर भी जीवात्मा को हानि नहीं पहुँचती।

यह है श्लोग २-४८ में बताये 'सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा' (सफलता असफलता में समभाव रहने) का अर्थ (अभिप्राय)।

विषयों से ज्ञान आत्मा को होता है। स्वभाववश वह उसको प्राप्त करने का यत्न करता है। जब वह प्राप्त होता है तो उसे हर्ष नहीं होता। यदि प्राप्त नहीं होता तो उसे शोक नहीं होता। इस कारण विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिये। अर्थात् उनमें ही चित्त लगाये रखना अनर्थकारी है।

२३. सफलता-असफलता में समभाव रखने वाला व्यक्ति युक्त कहाता है। जो अयुक्त है अर्थात् ऐसा नहीं रह सकता, विषय की प्राप्ति पर हर्षित हो उठता है और अप्राप्ति पर दुःखी हो जाता है, ऐसे अयुक्त व्यक्ति में बुद्धि नहीं है, ऐसा मानना चाहिये।

वह बुद्धि-विहीन व्यक्ति भावना-रहित (विचार रहित) होता है। तब उसके चित्त में अशान्ति रहती है और वह सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

एक उदाहरण दिया जा सकता है। एक व्यक्ति सुन्दर मोटर-गाड़ी के समीप

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

जिस मनुष्य का मन इन्द्रियों के विषयों में विचरता रहता है, वह जल में वायु से डोलती नाव की भाँति डोलता रहता है। इन्द्रियाँ ऐसे पुरुष की बुद्धि को हर लेती हैं।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

इसलिए हे अर्जुन ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से बची हुई हैं (वश में हैं), उसकी बुद्धि स्थिर होती है।[२४]

खड़ा उसमें सवारी करने की इच्छा करता है। मोटर का स्वामी आता है और उसकी ओर ध्यान दिये बिना गाड़ी में बैठकर चल देता है।

देखने वाला व्यक्ति इस अपूर्ण कामना पर यदि दुःख करे तो वह अयुक्त व्यक्ति है।

मोटर का स्वामी उस व्यक्ति को जो मोटर की ओर लालसा भरी दृष्टि से देखता हुआ खड़ा है, गाड़ी में बैठाकर सैर करा देता है तो वह मनुष्य प्रसन्नता से उछल पड़ता है। वह अयुक्त व्यक्ति है।

एक तीसरी स्थिति भी हो सकती है। मनुष्य को दोनों अवस्थाओं में शोक अथवा हर्ष नहीं होता। तब वह समभाव वाला व्यक्ति कहायेगा है।

ऐसा समभाव तब होता है जब इन्द्रियों तथा मन के द्वारा विषय का प्रभाव जीवात्मा पर उत्पन्न होता है परन्तु उसमें कामना उत्पन्न नहीं होती। तब मोटर की सवारी मिली है अथवा नहीं मिली, इससे उसे हर्ष-शोक नहीं होता।

मोटर की सवारी मिलने पर भी मोटर तो छोड़नी पड़ती है, तब विषाद उत्पन्न होता है। ऐसे मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता।

अतः कामनाओं से बचना चाहिए। विषय प्राप्त हो अथवा न हो, इससे हर्ष-शोक न हो।

२४. श्लोक में शब्द है—'निगृहीतानि'। अभिप्राय है अलग की हुई।

यह विषयों से अलिप्त होने से होता है। कोई मनुष्य अति स्वादिष्ट भोजन खाता है। इस कारण नहीं कि यह स्वादिष्ट है, वरन् क्षुधा पूर्ति के लिए। तब भोजन का स्वादिष्ट होना अथवा न होना अर्थ-हीन हो जाता है। मनुष्य भोग-भोगता है। इस कारण नहीं कि उससे रस प्राप्त होता है वरन् इस कारण कि भोग से शरीर का कोई अभावपूर्ण होता है। तब वह रसयुक्त हो अथवा रसहीन हो, यह विचार नहीं रह जाता। शरीर के अभाव की पूर्ति ही ध्यान में रह जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ।।६९।।

सब (साधारण) प्राणियों के लिए जो रात है, उस संयमी (विषयों से अलग हुए व्यक्ति) के लिए वह जागने का समय है। जब सब जागते हैं, तब मुनि (तत्व को जानने वाले) उसे रात्रि देखता (जानता) है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

जैसे सब ओर से आकर समुद्र में पड़ने वाली नदियों के जल से समुद्र में कुछ अन्तर नहीं पड़ता (समुद्र को चलायमान नहीं करता), उसी प्रकार सब प्रकार के भोग प्राप्त होने पर भी उस (स्थित प्रज्ञ) को शान्ति ही प्राप्त होती है। वह भोगों को चाहने वाला नहीं होता।[२५]

इस कारण कहा है कि इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करो। इस कारण नहीं कि उनसे इन्द्रियों को रस प्राप्त होता है वरन् इस कारण कि उन विषयों की प्राप्ति से शरीर का किसी प्रकार का अभाव पूर्ण होता है।

ऐसा होने पर बुद्धि स्थिर रहती है।

ऐसे मनुष्य को कामनारहित कहा है। वह विषयों से अलिप्त हो अपना व्यवहार चलाता है। इस मनुष्य की प्रज्ञा स्थिर कही जाती है।

२५. जो मनुष्य विषयों से अलिप्त रहता है अर्थात् विषयों को भोग करता हुआ भी उनको स्वभाविक कर्म मानता है, वह अन्य विषयासक्त मनुष्यों से भिन्न प्रकार से देखने लगता है। जिसको सामान्य मनुष्य रात समझते हैं अर्थात् विश्राम काल मानते हैं, उसे वह दिन अर्थात् पुरुषार्थ का काल समझता है। जिन विषयों में साधारण जन संलग्न रहते हैं, (जिस प्रकार दिन के समय जन कार्यरत रहते हैं) उन विषयों से मुनि जन ऐसे ही दूर रहते हैं जैसे रात्रि के समय मनुष्य निद्रा में लीन सब बातों को भूल जाता है।

दिन और रात का अभिप्राय है कार्य करने का अवसर और कार्य न करने का अवसर। जिस कार्य में सांसारिक प्राणी अति रुचि लेते हैं, उसे संयमी पुरुष व्यर्थ की बात समझता है और जिन बातों का सांसारिक प्राणी विचार नहीं करते, उन्हें संयमी मनुष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण समझता है। उसकी बुद्धि विलक्षण हो जाती है।

२६. इस श्लोक में विषयासक्त और विषयों से अलिप्त व्यक्ति में अन्तर बताया है। विषयों से अलिप्त व्यक्ति विषयों को भोग करता हुआ भी उनसे विचलित नहीं होता। ऐसे ही जैसे समुद्र में अनेकानेक नदियाँ जल डाल रही हैं, परन्तु समुद्र के जल में चढ़ाव नहीं आता।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

जो सब कामनाओं को त्याग कर मोह और अहंकार से रहित होकर कामनाओं के बिना (इस संसार में) विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।

मनुष्य की यह स्थिति ब्राह्मी (सर्वोत्कृष्ट) है। इस स्थिति को प्राप्त होकर वह मोहजाल में नहीं फँसता और अन्तकाल में वह ब्रह्म निर्वाण (महान् विमुक्तावस्था) को प्राप्त होता है।[२७]

---

२७. भगवद्गीता के इस द्वितीय अध्याय को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग आरम्भ होता है दसवें श्लोक से और वह चलता है उनतालीसवें श्लोक तक।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह कृष्णार्जुन के संवाद का वह भाग है जो युद्ध-क्षेत्र में सम्पन्न हुआ। इसमें सीधी और निःसंकोच भाव में वार्तालाप हुई थी।

इन श्लोकों में कृष्ण ने बताया है कि मृत्यु तो वस्त्र बदलने के तुल्य है। कर्म करने वाला चेतनस्वरूप जीवात्मा जो प्राणी में है, वह मरता नहीं। मरता है शरीर। शरीर विनष्ट ो जाता है।

अर्जुन के मन में जो भय समा गया था कि वह अपने प्रियजनों की हत्या कर रहा है, यह निर्मूल हो गयी।

कृष्ण का कहना था कि आत्मा तो कभी मरता नहीं। हत्या शरीर की ही की जा सकती है। यह उससे अनिष्ट करने वाला साधन अर्थात् उसका शरीर ही छीनने के समान है, जैसे किसी शरारती लड़के के हाथ से छड़ी छीन ली जाये।

दुर्योधन, भीष्म, द्रोणाचार्य इत्यादि अपने इन शरीरों से अनिष्ट कर रहे हैं। इस कारण उनसे उनके शरीर छीन लेने चाहियें, जिससे ये अधर्माचरण न कर सकें। इसमें कुछ भी पाप नहीं।

यही धर्म है। इस कारण इन अधर्मियों की हत्या में कोई पाप नहीं।

यह है द्वितीय अध्याय के इस प्रथम भाग का निष्कर्ष।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब व्यास जी महाभारत की कथा को लिपिबद्ध करने लगे तो उन्होंने अनुभव किया कि कृष्णार्जुन संवाद में इतना कथन (२-१० से २-३९ तक) युद्ध-भूमि में भले ही पर्याप्त रहा हो, परन्तु वह जीवन की पूर्ण मीमांसा का वर्णन नहीं करता। इस कारण उन्होंने, मनुष्य क्या है, इसके कर्म क्या हैं, यह कर्म कौन करता है, क्यों करता है और इसका फल क्या होता है, इस विषय पर विस्तार में लिखना आरम्भ कर दिया।

इस अध्याय के शेष भाग में (अर्थात् श्लोक २-४० से २-७२ तक) यह बताया है कि मनुष्य में एक यंत्र है बुद्धि। उसका (अध्यवसायो बुद्धिः— सां० २-१३) कार्य कर्मों का निश्चय करना है। इस कारण जो बुद्धि निश्चयात्मक नहीं (निश्चय करने का सामर्थ्य नहीं रखती) वह घटिया है।

मनुष्य इस संसार के स्वादों में फँसा हुआ बुद्धि की निश्चय करने की सामर्थ्य खो देता है।

सांसारिक विद्वान् जिनको वेदवादी (ज्ञानवादी) कहा है, वे संसार के स्वादों को प्रकट करते हैं और कहते हैं कि यह जीवन जन्म से मरणपर्यन्त है। उस कारण इसको भोगना चाहिये। प्रगति के त्रिगुणात्मक पदार्थों के स्वादों में लिप्त हुए मनुष्य अनिश्चित बुद्धि हो जाते हैं। यह बुद्धि अत्यन्त बिनाशकारी प्रभाव उत्पन्न करती है।

इसके उपरान्त गीता के प्रवक्ता ने बताया कि इस संसार में रहते हुए कैसे निश्चयात्मक बुद्धि प्राप्त की जा सकती है। निश्चयात्मक बुद्धि वाला व्यक्ति ही स्थित प्रज्ञ है।

संसार के विषय (रस) इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं। इन्द्रियाँ, रसों की सूचना मन को देती हैं और मन जीवात्मा को। जब इन्द्रियों द्वारा रसों का प्रभाव मन पर न हो, तब बुद्धि विचलित नहीं होती।

विषय का ग्रहण उसके रस के अतिरिक्त शरीर के किसी अभाव की पूर्ति के लिए भी होता है। जब विषय का ग्रहण उस शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये किया जाये और शारीरिक आवश्यकता न रहने पर उसको ग्रहण न करे और जब ऐसा स्वभाव बन जाये तो मनुष्य विषयों के अधीन न रहकर स्वतन्त्र हो जाता है। तब वह संयमी पुरुष स्थित प्रज्ञ कहाता है।

यह स्थित प्रज्ञ की ब्राह्मी स्थिति है। ब्रह्म का अर्थ है महान्, बहुत बड़ा। इस कारण ब्राह्मी स्थिति का अभिप्राय है मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट स्थिति।

ऐसी स्थिति में रहकर मनुष्य ब्रह्म निर्वाण (श्रेष्ठ निर्मुक्त)अवस्था को प्राप्त करता है।

निर्वाण का अर्थ मोक्ष नहीं। इसका अर्थ है शान्त हो जाना। अतः ब्रह्म निर्वाण का अर्थ होगा उसकी बुद्धि अत्यन्त शान्त स्थिर हो जायेगी। वह इधर-उधर दौड़ेगी नहीं।

तृतीय अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।१।।

अर्जुन ने पूछा—

हे कृष्ण ! यदि आपका यह मत है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है तो फिर मुझे इस भयानक पापमय कर्म के लिए क्यों कह रहे हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।२।।

संदिग्ध वाक्य से आप मेरी बुद्धि को मोहित कर रहे हैं (भ्रम में डाल रहे हैं)। अतः एक बात निश्चय करके बताइये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूं ।[१]

भगवान उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३।।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति ।।४।।

---

१. कृष्ण ने कहा था कि बुद्धि ही मनुष्य से सब कार्य कराती है । इस कारण व्यवसायात्मिक बुद्धि होनी चाहिये ।

साथ ही कहा कि कामनाओं से बुद्धि अस्थिर हो जाती है। कामनाओं से कर्म होता है।

बुद्धि श्रेष्ठ है अथवा कामनायुक्त कर्म ? बुद्धि से कामनाएँ नियंत्रित होती हैं अथवा कामनाएँ बुद्धि को जिधर चाहें ले जाती हैं ?

यह प्रश्न था । यह प्रश्न उपस्थित हुआ कृष्ण के इस कथन पर कि बुद्धि के योग से किया कर्म सबसे श्रेष्ठ है और साथ ही इस कथन पर कि विषयों के चिन्तन से कामनाएँ उत्पन्न होती हैं । कामनाएं जब सफल नहीं होतीं तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, इत्यादि । जब बुद्धि कामनाओं

श्री कृष्ण कहते हैं—

हे निष्पाप (अर्जुन) ! इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा (आधार) हैं, ऐसा कहा गया है । एक ज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-योग से जानी जाती है और दूसरी कर्म-योगियों द्वारा कर्म-योग के नाम से जानी जाती है ।

क्योंकि मनुष्य कर्म के आरम्भ न करने से नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं हो सकता, न ही सब कर्मों से सन्यास ले लेने से जीवन के किसी भी कार्य में सिद्धि पा सकता है ।[२]

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

कोई भी मनुष्य एक क्षण के लिए भी बिना कार्य किये नहीं रह सकता । निःसंदेह सब मनुष्य प्रकृति (स्वभाव) से विवश हो कार्य करते हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

जो मूढ़ मनुष्य कर्मेन्द्रियों को संयम में करता (कार्य करने से रोकता) है और विषयों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी (अशुद्ध व्यवहार करने वाला) कहा जाता है ।[३]

के अधीन होकर सम्मोहित हो सकती है तो वह विषयों पर कैसे शासन करेगी और उनको कैसे सीधे मार्ग पर ला सकेगी ?

इस तृतीय अध्याय में इसी समस्या को सुलझाया गया है ।

२. नैष्कर्म्य का अर्थ है कर्म न करने वाला हो जाना । परन्तु मनुष्य ऐसा कदापि नहीं हो सकता । एक क्षण के लिए भी मनुष्य बिना कुछ किए नहीं रह सकता ।

३. यदि मनुष्य इन्द्रियों को कर्म करने से रोक भी दे तो भी मन से स्मरण करता हुआ कर्म करता है । इस कारण कर्म तो होता ही है । इन्द्रियों से कर्म न करना, परन्तु मन से करते रहना तो और भी भयंकर स्थिति होती है । इससे ही मिथ्याचार होते हैं ।

एक व्यक्ति किसी स्थान पर एक सोने की मुद्रा पड़ी देखता है । वह उसको प्राप्त करने की कामना करता है। उस सोने की मुद्रा को उठाते हुए पकड़े जाने के भय से मनुष्य हाथों को नियंत्रण में रखता है और मुद्रा को नहीं उठाता । परन्तु मन से वह उसे प्राप्त करने की इच्छा करता रहता है। मूढ़ मनुष्य कर्म से इन्द्रियों को रोकते हैं और मन से उस विषय में चिन्तन करते हैं। यही तो मिथ्याचार है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।

और हे अर्जुन ! जो मन से इन्द्रियों को नियंत्रण में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से 'कर्मयोग' का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ (आचरण वाला) है ।[४]

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।८।।

तू नियत कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तो शरीर-यात्रा (निर्वाह) भी नहीं हो सकेगी ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।९।।

यज्ञार्थ किये कर्म के अतिरिक्त कर्म से पुरुष संसार से बंधता है । हे अर्जुन आसक्ति रहित होकर यज्ञ के निमित्त कर्म को भली प्रकार कर ।[५]

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।१०।।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।११।।

---

४. मन से इन्द्रियों को नियंत्रण में कर कर्म योग की विधि से किया कर्म श्रेष्ठ होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि मन को नियंत्रण में किये बिना इन्द्रियों को कर्म से रोकना मूर्खता है । इन्द्रियों को नियंत्रण में करना चाहिये । मन के भटकते रहने पर इन्द्रियों का रोकना हीन प्रक्रिया है ।

५. यज्ञार्थ (यज्ञ के निमित्त)—यज्ञ का अभिप्राय है सबके सांझे कल्याण के लिये किया गया कर्म ।

जो कर्म इस नीयत से किया जाये कि उससे मनुष्य मात्र का कल्याण होने की सम्भावना हो, ऐसा कर्म और इसी के लिये किया गया प्रयत्न इस कर्म-चक्र में नहीं फँसायेगा ।

'मुक्तसंग:' का अर्थ है कर्मफल की इच्छा किए बिना ।

जैसा कि हमने ऊपर बताया है कि कर्म, कर्मफल और कर्मफल प्राप्त करते हुए पुनः कर्म और पुनः उसका कर्मफल—यह चक्र है, जिससे मनुष्य इस जन्म-मरण में फँसा रहता है । इससे बचने का उपाय है यज्ञार्थ कर्म ।

प्रजापति (परमात्मा) ने आरम्भ में प्रजा की रचना यज्ञ रूप में ही की थी और (मनुष्य को कहा था कि) इस (यज्ञ के द्वारा) ही वृद्धि को प्राप्त होवो । इस यज्ञ से ही तुम्हारी इच्छित कामनाएँ पूर्ण होंगी ।

इस यज्ञ द्वारा देवताओं (विद्वान् लोगों) को सन्तुष्ट करते रहो और वे देवता (विद्वान् लोग) तुम्हारी उन्नति करते रहें । इस प्रकार परस्पर सन्तुष्ट करते हुए श्रेय (कल्याण) को प्राप्त करोगे । ११ ।।[६]

---

६. यज्ञ के संकुचित अर्थ करने वालों ने बहुत भ्रम फैलाया है । इस कारण यज्ञ के वास्तविक अर्थों को समझकर ही गीता को समझा जा सकता है ।

श्री बालगंगाधर तिलक ने इस यज्ञ शब्द के विषय में बहुत ऊहा पोह की है । वह सम्भवतः इस कारण है कि मध्यकालीन विद्वानों की दृष्टि में यज्ञ कर्म संकुचित अर्थ वाला हो गया था ।

श्री तिलक लिखते हैं—

> इस श्लोक (३-९) के पहले चरण में मीमांसकों और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है—
>
> अभिप्राय यह हुआ कि गीता का सिद्धान्त मीमांसकों के सिद्धान्त से भिन्न है । ऐसा नहीं है । सब भारतीय शास्त्र इन सब पर एकमत हैं । मतभेद कहीं नहीं, न ही इस श्लोक में दो मत बताये हैं ।
>
> श्लोक (३-१०) में कहा है कि नियत कर्म करता जा, उनको छोड़ नहीं । नियत कर्म है स्नानादि, शौचादि, भोजन लेना, वस्त्र पहनना । इसी प्रकार अन्य शरीर पालन के कर्म हैं । ये कर्म, कोई मीमांसक हो अथवा कोई अन्य हो, सब को पालन करने होते हैं ।
>
> और अगले श्लोक में कहा है कि इन नियत कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म हैं, उनको यज्ञ भावना से करे । इस भावना से कर्म करने को मीमांसक भी कहते हैं ।

तिलक जी का मीमांसक से अभिप्राय है मीमांसा दर्शन की परिपाटी पर विचार करने वाले । वस्तुतः गीता की परिपाटी और मीमांसकों की परिपाटी में भेद नहीं है । दोनों यज्ञार्थ कर्म की महिमा मानते हैं ।

मनुष्य का प्रत्येक कार्य यज्ञ रूप हो जाता है, जब वह सर्वहिताय किया जाये । कार्य के उद्देश्य से कार्य की महिमा में अन्तर पड़ जाता है । वेद में मनुष्य के सब कार्यों को यज्ञ माना है । ऐसा ही गीता में भी माना है । यह हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ से प्रभावित देवता (दिव्यगुण शक्तियाँ) तुम्हारे इच्छित भोग तुम को देंगे। क्योंकि उनका ही सब-कुछ दिया हुआ है इस कारण उनको दिये बिना जो मनुष्य सब-कुछ का स्वयं ही भोग करता है, वह चोर ही है।[७]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

---

७. यहाँ देवता और उनसे दिया सब-कुछ का अभिप्राय समझना चाहिए। देवता का शाब्दिक अर्थ देने वाला भी है और दिव्य गुण युक्त पदार्थ तथा व्यक्ति भी हैं।

यहाँ उन दिव्यगुण युक्त प्राकृतिक शक्तियों से अभिप्राय है जिनसे इस पृथ्वी पर मनुष्य जीवन चलता है। वायु, जल, सूर्य, पृथ्वी और पृथ्वी के गर्भ मे अनेकानेक पदार्थ जिनका मनुष्य उपयोग करता है—ये सब देवता कहे जा सकते हैं।

मनुष्य जीवन इन प्राकृतिक पदार्थों से ही चलता है। इनके बिना जीवन नहीं चलता।

यह जीवन इन दिव्य पदार्थों की ही देन है और यदि मनुष्य इस जीवन में प्राप्त सबका सब अपने स्वार्थ के लिए ही प्रयोग करे तो वह चोर माना जायेगा।

ये पदार्थ परमात्मा के दिये हुए हैं। इनके देने वाला ईश्वर ही है। यजुर्वेद का एक मन्त्र है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

(४०-१)

अर्थ है—चलायमान जगत् में सब-कुछ परमात्मा से छाया हुआ है (उसका ही बनाया हुआ है।) इस कारण इस (जगत्) का लालच की दृष्टि से मत भोग कर। यह किसी की निजी सम्पत्ति नहीं है।

अतः, यदि प्रकृति से प्राप्त उपलब्धियों को यज्ञ में नहीं देगा तो चोर कहायेगा।

परमात्मा की देन हैं ये देवता, जल, वायु, सूर्य, पृथ्वी, विद्युतादि। इनका प्रयोग सर्वहिताय ही किया जाये, यही इस श्लोक का अभिप्राय है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मनुष्य अपने लिए कुछ न ले?

इसका उत्तर अगले श्लोक में है।

यज्ञ से शेष बचा हुआ खाने वाला सज्जन पाप से मुक्त हो जाता है। जो पापीजन (स्वार्थी जन) केवल अपने लिए ही पकाते हैं (सब प्रयत्न करते हैं), वे पाप को ही खाते हैं।[८]

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्न से सब प्राणी (उत्पन्न और पोषित) होते हैं, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है।[९]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

---

८. 'यज्ञ का शेष' का अभिप्राय समझना चाहिए। हवन किया जाता है तो घी की आहुति देने पर चम्मच में एक-आध बूंद बचा घी पृथक् एकत्रित कर लिया जाता है। उसको यजमान अपने प्रयोग में लाता है। यह यज्ञ का शेष है। इसी प्रकार जीवन के अन्य सभी कार्यों में समझना चाहिए। एक व्यक्ति पड़े की दुकान करता है। दुकान के सब प्रकार के खर्च इत्यादि करने के उपरान्त जो कुछ दुकान के स्वामी के पास बचता है, स्वामी को उसमें से ही अपने पालन-पोषण के लिये लेना चाहिए। यह दुकान रूपी यज्ञ का शेष होगा। अपने निर्वाह से भी बचाकर शेष को पुनः सृष्टि रूपी यज्ञ के निमित्त ही खर्च कर देना चाहिए अर्थात् सबके कल्याण के लिए ही वह दे देना चाहिए।

ऐसा करने वाला व्यापारी व्यवसाय में भी यज्ञ ही कर रहा कहा जायेगा।

९. सब प्राणी अन्न से जीवन पाते हैं। अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है। पर्जन्य को सामान्य भाषा में वर्षा का जल कहा जाता है।

हम समझते हैं कि अन्न केवल वर्षा के जल से ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए पर्जन्य का अर्थ वर्षा नहीं हो सकता। पर्जन्य का अर्थ है जो परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। अन्न की पैदावार में सहयोग देने वाले हैं—पृथ्वी, सूर्य, जल, वायु। सब मिलकर अन्न बनाते हैं। सृष्टि-रचना से पहले तो 'कार्बन' जो जीवधारियों के शरीर का मुख्य अंग है नाइट्रोजन से बना कहा जाता है। नाइट्रोजन का अणु पर्जन्य कहा जा सकता है।

इस कारण पर्जन्य का अर्थ परमात्मा से उत्पन्न पदार्थ हैं।

इस श्लोक में कहा है कि प्राणी मात्र अन्न से बनते हैं। अन्न परमात्मा से निर्मित सूर्यादि पदार्थों की देन है। पर्जन्य (परमात्मा से दिये पदार्थ) यज्ञ रूप में परमात्मा के बनाए हुए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यज्ञ से ही प्राणियों के कर्म उत्पन्न होते हैं।

कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म (ब्रह्माण्ड तीन अक्षरों का समूह) से हुई है ऐसा जानो। ब्रह्म अक्षर से ही समस्त जगत् हुआ है। इसलिए सर्वव्यापक अनादि ब्रह्म ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अर्थात् यज्ञ में यह ही साधन है।[10]

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ ! इस प्रकार चलाये हुए (ब्रह्म) चक्र के अनुसार जो व्यवहार नहीं करता, वह इन्द्रियों द्वारा भोग भोगता हुआ महान् पापमय जीवन व्यतीत करता है।

---

१०. इस एक श्लोक में कपिल के सांख्यानुसार पूर्ण सृष्टि-रचना और सृष्टि के व्यवहार का वर्णन है।

गीता के प्रायः भाष्यकार ब्रह्म का अर्थ वेद करते हैं। श्री बालगंगाधर तिलक ने इसका अर्थ महत् किया है और गीता का ही एक उद्धरण (गीता १४-३) दिया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी (१-६, ७) ब्रह्म से अभिप्राय ब्रह्माण्ड लिया गया है। सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और यह साम्यावस्था भंग होती है तो महत् बनता है। गीता १४-३ में इसी को ब्रह्म कहा है।

यह कहा है कि कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है। ब्रह्म कार्य-जगत् का भी नाम है। (श्वे० १-६, ७) यह परम ब्रह्म कार्यजगत् का ही नाम है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि परम ब्रह्म में चक्कर पड़ रहा है। यह गति ही कर्म है। इसमें फंसा जीव कर्म करने लगता है। अतः कार्य-जगत् से कर्म उत्पन्न हुआ है और कार्यजगत् अक्षर ब्रह्म (प्रकृति) से उत्पन्न होता है। इसी कारण कहा है कि सब कर्मों में प्रकृति प्रतिष्ठित है।

प्रकृति इस जगत् रूपी यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यह यज्ञ प्रकृति से ही किया जा रहा है। यज्ञ है सृष्टि रचना का। इस यज्ञ का करने वाला है प्रजापति (भ० गीता ३-१०)

यहाँ अभिप्राय है कि प्रजापति के यज्ञ में प्रकृति समिधा और सामग्री है। यज्ञ से जगत् उत्पन्न हुआ। जगत् है ब्रह्म चक्र। यह स्वयं कर्म है और इसमें फंसा जीव (अस्मिन्हंसों भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे —श्वे० उप० १-६) कर्म करता है।

जीव यदि इस महान् यज्ञ में अपना कर्म भी उस प्रकार यज्ञ के रूप में करे जैसा कि प्रजापति कर रहा है तो वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता कहा जायेगा।

परमात्मा से रचे यज्ञ में कैसे इसके अनुरूप यज्ञ-रूप हो सकता है? इस जगत्

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा (परमात्मा) में ही रत (प्रीति रखने वाला) और आत्मा (परमात्मा) में ही तृप्त और सन्तुष्ट होता है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य (करणीय शेष) नहीं रह जाता।

उस व्यक्ति का किये कार्यों से प्रयोजन नहीं रह जाता। उसका न किये कर्मों से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता। उसका प्राणियों में कुछ भी अर्थ (स्वार्थ) नहीं रहता।

इस कारण किसी में भी मोह न रखता हुआ, निरन्तर कर्म (कर्तव्य) को भली प्रकार करे। क्योंकि मोहरहित हुआ व्यक्ति (कर्म करता हुआ भी) परम पद (मोक्ष) को प्राप्त होता है।[11]

के नियम हैं, जिन्हें ऋत् कहते हैं। उनके अनुकूल विचरना ही प्रजापति के यज्ञ में सहयोग देना है।

११. श्लोक ३-१७ में शब्द 'आत्मा' का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने किया है 'अपने' तथा कुछ ने अर्थ किया है अपने जीवात्मा में।

ये दोनों ही अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। कारण यह कि जो अपने में ही सन्तुष्ट और अपने में ही तृप्त होगा, वह परम पद को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

श्लोक ३-१५ में कहा है कि यज्ञ में प्रकृति को साधन मान कार्य करें। साध्य तो परमात्मा ही है। जो सब-कुछ आत्मा (परमात्मा) के लिए करता है, उसमें ही सन्तुष्ट होता है, वही परम पद को पाता है।

श्लोक ३-१७ में आत्मा का अर्थ परमात्मा लगाने से ही भाव ठीक बनता है। यह इस प्रकार कि मनुष्य को चाहिए कि वह संसार के सब प्रकृति से बने पदार्थों को जीवन यज्ञ में साधन बनाए।

इसका अर्थ है कि संसार में मनुष्य जो भी कार्य करे, उसे यज्ञ रूप (लोक कल्याण का कार्य समझकर करे) सांसारिक पदार्थों को यज्ञ में समिधा-सामग्री इत्यादि समझे और वह परमात्मा में ही प्रीति रख उसमें ही तृप्त होकर करे तो फिर उसके लिए संसार में कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता और उसे अति श्रेष्ठ पद प्राप्त होता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनक (इत्यादि) भी कर्म के द्वारा ही श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इस कारण लोक-संग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने के योग्य है (तुम्हें भी कर्म करना चाहिये।)

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, अन्य साधारण जन भी वैसा ही वर्तते हैं। जो वह (श्रेष्ठ पुरुष) प्रमाणस्वरूप (नमूने के तौर पर) करता है, वैसा ही दूसरे करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन ! मुझे तीन लोक में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है (अर्थात् में इनमें कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता)। इनमें कुछ भी प्राप्त होने योग्य मुझे

यज्ञ रूप कर्म होने से संसार में वह जो कुछ करेगा उसका फल श्रेष्ठ पद की प्राप्ति ही होगी।

इसी कारण अगले श्लोक (३-२०) में कहा है कि जनक इत्यदि महापुरुषों ने कर्म करते हुए लोक-संग्रह अर्थात् संसार में ख्याति प्राप्त की थी।

इस तृतीय अध्याय का आरम्भ ही इस बात से हुआ था कि क्या कर्म त्याग करता उचित है ? दूसरे अध्याय में स्थित प्रज्ञ के लक्षण करते हुए श्री कृष्ण ने बताया था कि कामनाओं से ही बुद्धि विचलित होती है (२-५५), जो कामनाओ को जीत लेता है, वह स्थित प्रज्ञ है।

इस पर प्रश्न उपस्थित हुआ था कि कामनाओं के त्याग का नाम सन्यास है तो सन्यास ठीक है क्या ? यदि यह ठीक है तो युद्ध जैसे घोर कर्म करने के लिये क्यों कहा जाता है ?

श्री कृष्ण कहते हैं कि कर्म से तो छुटकारा मिल नहीं सकता। इस कारण कर्म तो करना ही पड़ेगा। अतः कर्म को यज्ञ रूप करो।

यज्ञ के विषय में यजुर्वेद (१-२) कहता है—'यज्ञ पवित्र करने वाला है, विज्ञान का हेतु है। पृथ्वी, वायु में यज्ञ हो रहा है अर्थात् ये निरन्तर कल्याण कार्य कर रहे हैं। यह धर्म (धारण करने योग्य) संसार का आधार है, सुखों का धाम है और लोक की वृद्धि करने वाला है।

कर्म को यज्ञ रूप करते हुए लोक संग्रह करो।

अप्राप्त नहीं है। इस पर भी मैं कर्म करता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

(कारण यह कि) यदि मैं सावधान हुआ कर्म न करूँ तो हे अर्जुन ! सब लोग भी मेरे व्यवहार को देख वैसा ही करेंगे (कर्म छोड़ देंगे)।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्मचेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तब ये सब लोग भ्रष्ट हो जायेंगे। तब मैं वर्णसंकर को उत्पन्न करने वाला हो जाऊँगा और मैं प्रजाओं के हनन करने वाला हो जाऊँगा।[१२]

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

हे भारत ! जैसे कर्म में लीन अज्ञानीजन कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त (न मोहित हुआ) ज्ञानी लोक-संग्रह के निमित लोगों को अपने साथ लगाने के लिये कर्म करता है।

ज्ञानी पुरुष को अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम पैदा नहीं करना चाहिये। (परमात्मा से) युक्त मनुष्य को चाहिये कि सब कर्मों को भलीभांति करे और

---

१२. श्रीकृष्ण का आशय यह है कि सब प्रकार से सम्पन्न और सुखी जीवन व्यतीत करने वाले लोग जो किसी प्रकार का अभाव नहीं रखते, वे कर्म करना छोड़ न दें। कर्म तो वे छोड़ नहीं रुकेंगे। अतः कर्म से उदासीन होने का अर्थ यह होगा कि वे यज्ञ (लोक कल्याण) कर्म छोड़ देंगे।

इसी कारण ऊपर श्लोक ३-१७, १८, १९ में आत्म शब्द का अर्थ अपने लिये नहीं है। यदि आत्म शब्द का अर्थ अपने लिये करेंगे तो ये श्लोक निरर्थक हो जायेंगे। श्लोक ३-१७ का समन्वय श्लोक ३-१८, १९ से भी तब हो सकता है, जब आत्मा का अर्थ परमात्मा करें। अन्यथा अर्थ ठीक नही बैठेंगे।

परमात्मा के सब कर्म यज्ञ (लोक कल्याण) रूप ही हैं। इस कारण यज्ञ करने वाला मनुष्य परमात्मा के लिये ही और परमात्मा को सन्तुष्ट करने के लिये ही कर्म करे।

यह कहा है कि ऐसा मनुष्य जिसे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये वह भी कर्म करे अन्यथा दूसरे लोग जिनको कुछ प्राप्त नहीं, वे भी उसका अनुकरण कर कर्म करना छोड़ बैठेंगे।

दूसरों से भी वैसा ही कराये ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।२७।।

सब कर्म प्रकृति के गुणों से प्रेरित हो (मनुष्य द्वारा) किये जाते हैं, परन्तु मूढ़ (जड़ बुद्धि) समझते हैं कि हम ही कर रहे हैं।[13]

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

हे महाबाहो (अर्जुन) ! तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष जो गुण और गुण के कर्म को जानता है, वह यह जान कर कि गुण गुणों में वर्तते हैं (अर्थात् स्वाद और बेस्वाद गुणों का ही खेल है) वह इनके आकर्षण में आसक्त नहीं होता।[14]

---

१३ मनुष्य के सब कर्म प्रकृति के अधीन होते हैं।

अभिप्राय यह कि प्रकृति के सब पदार्थ त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस्, तमस् गुण वाले हैं। पदार्थों के रस अथवा विरस इन गुणों के कारण होते हैं। अतः इनके भोग में रुचि अथवा अरुचि भी इन गुणों के कारण ही समझनी चाहिये। मीठा-खट्टा नेक-बुरा, सुन्दर-असुन्दर, मधुर-तीखा ये सब सत्त्व, रजस्, तमस् गुण के कारण ही हैं। मनुष्य वस्तुओं का भोग करता है अथवा उनका त्याग करता है तो इन गुणों के कारण करता है।

इसी कारण, यह कहा है कि प्रकृति के इन गुणों से प्रेरित हो मनुष्य संसार में राग द्वेषादि प्रवृत्तियाँ रखता है।

परन्तु यह तो सब के साथ है। जो मनुष्य बुद्धि के प्रयोग के बिना इन गुणों का भोग करता है अथवा इनका त्याग करता है, वह एक सामान्य जीवन व्यतीत करता हुआ इन गुणों में ही डोलता रहता है।

१४. जो तत्त्व-वेत्ता (वास्तविक ज्ञान रखने वाला) है, वह गुणों और गुणों से उत्पन्न होने वाले कर्म के फल को जानता है। इस कारण वह गुण में आसक्त नहीं होता। वह गुण का भोग करता हुआ भी उससे बंध नहीं जाता। इस कारण वह गुणों से राग अनुभव नहीं करता।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। किसी मनुष्य को स्वादिष्ट मिठाई खाने को मिली है। वह उसे चख कर अनुभव करता है कि मिठाई अति स्वादिष्ट है। चखने वाला मनुष्य यह अनुभव करता है कि अधिक खायेगा तो वह पेट को खराब करेगी। वह उस मिठाई के गुण को समझता है। इस कारण उतना ही खाता है जितनी वह पचा सकता है। उसके बाद वह उसे छोड़ देता है। यद्यपि

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृति के गुणों (उनसे उत्पन्न स्वादों) से मोहित मनुष्य इन गुणों और उन द्वारा उत्पन्न कर्म में फँसे रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य तुच्छ बुद्धि वाले मनुष्यों को विचलित (पथ-भ्रष्ट) न करें।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३०।।

अपने आत्मा के कल्याण का विचार कर सब कर्म मुझ (परमात्मा) में अर्पण करके आशारहित (फल की आशा छोड़कर), मोह-ममतारहित होकर तथा बिना चिन्ता किये युद्ध कर।[15]

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपिकर्मभिः ।।३१।।

जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त तथा ईर्ष्यारहित हो मेरे (ऊपर कहे) अनुसार

रसना अधिक मिठाई खाने की लालसा करती है, परन्तु मनुष्य उस मिठाई के शरीर में कर्म को जानते हुए उसे खाना छोड़ देता है। यह है गुण तथा उसके कर्म को जानकर उसमें आसक्त होना।

ऐसे तत्वदर्शी मनुष्यों को चाहिये कि वे लोक (संसार) में उदाहरण बन कर रहें जिससे सामान्य मनुष्य भटक न जायें।

विषयों को जो उनके प्राकृतिक गुणों के कारण हैं, मनुष्य पाने की इच्छा करता है। ज्ञानवान् उन गुणों से उत्पन्न कर्म (फल) को जब इनका भोग अनासक्त भाव से करते हैं तो उनको कोई ऐसा उदाहरण उपस्थित नहीं करना चाहिए, जिससे सामान्य ज्ञान के लोग मिथ्या मार्ग का अवलम्बन करने लगें।

१५. यह हम बता चुके हैं कि गीता में मैं, मेरा, मुझ इत्यादि शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जैसे कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के वचन को सीधी वार्त्ता के रूप (direct part of speech) में बताये तो कथन में मैं, मेरा इत्यादि शब्द उसके प्रतीक ही समझे जाते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण जब कोई बात परमात्मा की ओर से कहते हैं तो वह परमात्मा के लिए ही मैं, मेरे इत्यादि शब्दों को प्रयोग करते हैं।

इसके ही अनुरूप इस श्लोक में यह कहा गया है कि अपने जीवात्मा (शरीर के नहीं) के कल्याण के लिए अपने सब कर्म मुझमें (परमात्मा में) अर्पण कर दो। अपने लिए मोह-ममता और आशा का विचार छोड़कर कार्य करो।

व्यवहार करता है, वह सम्पूर्ण कर्मों (फलों) से मुक्त हो जाता है।[१६]

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

और जो कर्मों में मीन-मेख निकालने वाले मूर्ख लोग मेरे (ऊपर बताये) मत के अनुसार व्यवहार नहीं करते हैं, उन सर्वज्ञानों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को नष्ट हुआ जान।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सब मनुष्य, ज्ञानवान मनुष्य भी अपने स्वभाव के अधीन व्यवहार करते हैं। फिर हठ कर क्या करेगा? अर्थात् अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करना ही पड़ेगा।

अभिप्राय यह है कि यदि कर्मों को बदलना हो तो स्वभाव को बदलना पड़ेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषयों में इन्द्रियों के जो राग और द्वेष दोनों विद्यमान होते हैं, उन दोनों (राग और द्वेष) के वश में न होवे (अर्थात् उनसे बचे)। क्योंकि ये दोनों (कल्याण के) मार्ग से हटाने वाले हैं।[१७]

---

१६. श्री कृष्ण कहते हैं कि उसके कहे अनुसार यदि अर्जुन अपने कर्म करेगा अर्थात् आशा और ममता छोड़कर, ईश्वरार्पण हो कर्म करेगा तो उन कर्मों का फल उसे नहीं मिलेगा। तब वह कर्म बन्धन से छूट जायेया।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि कर्मफल भोगने के लिए ही पुनः इस संसार में अच्छे-बुरे जन्म मिलते हैं। यदि मनुष्य ईश्वरीय नियम का पालन करते हुए और किसी प्रकार के फल की आशा तथा किसी से मोह के कारण कर्म नहीं करेगा तो वह कर्मफलों से मुक्त हो जायेगा।

जब कर्मफल नहीं रहेंगे तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

प्रत्येक मनुष्य की यही अभिलाषा रहती है कि वह इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाये। अतः कृष्ण ने इसी का उपाय बताया है।

१७. इन्द्रियों में जो राग, द्वेष (मोह और विरोध) है, वह इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप और गंध के कारण होता है। अच्छे रुचिकर विषयों के साथ राग (मोह) होता है और अरुचिकर विषयों के साथ द्वेष (विरोध) होता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अपना (वर्णाश्रम) धर्म (गुणरहित होते हुए भी) भलीभाँति पालन किया हुआ दूसरे के (वर्णाश्रम) धर्म से श्रेष्ठ होता है। अपने धर्म में मरना श्रेष्ठ है और दूसरे के धर्म में जीना तो भय का कारण है।[१८]

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन ने पूछा—

हे कृष्ण! मुझे यह बताओ कि पुरुष किस से प्रेरित हो पापकर्म करता है? वह पापकर्म की इच्छा न करता हुआ भी किससे बलपूर्वक इस बुरे काम पर ले जाया जाता है।

श्री कृष्ण उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

श्री कृष्ण ने कहा—

ये काम और क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं, यह क्रोध (अग्नि के समान) सर्वभक्षी है। यह बड़ा पापी है। इसे तू वैरी जान! (अग्नि की भाँति यह काम,

---

यह राग और द्वेष (दोनों) मनुष्य को विषयों के साथ बाँधते हैं। ये मनुष्य को अपने कल्याण से हटाने वाले होते हैं।

त्यागने योग्य तत्व है कर्म में राग और द्वेष।

१८. यह ऊपर बताया है कि मनुष्य स्वभाव से प्रेरित होकर कर्म करता है और गुण, कर्म तथा स्वभावानुसार ही वर्णाश्रम माने जाते हैं। अतः जब कहा कि अपने धर्म को अपने स्वभावानुसार करो तो वर्णाश्रम धर्म के पालन की बात ही कही है। यह तो अत्यन्त दुष्कर होगा कि मनुष्य अपने धर्म (स्वभाव) के विपरीत कर्म करे। यह अति भयावह भी होगा। अतः श्रीकृष्ण का अभिप्राय है कि राग और द्वेष को छोड़कर वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए।

इस श्लोक में स्वधर्म का अभिप्राय वर्णाश्रम धर्म है और आश्रम के कर्म गुण तथा स्वभावानुसार ही होते हैं।

क्रोध भोगों से तृप्त नहीं होता प्रत्युत और भी बढ़ता है।)

जैसे धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढक जाता है, और जैसे जेर से गर्भ ढका होता है, वैसे ही काम के द्वारा यह (जीवात्मा) ढक जाता है।"[१९]

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कुन्तिपुत्र (अर्जुन)! अग्नि की भाँति सन्तुष्ट न होने वाला यह काम ज्ञानियों का सतत् वैरी होने से (उनके) ज्ञान को ढक लेता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम तथा क्रोध के निवास स्थान हैं और इन (मन, बुद्धि और इन्द्रियों) के द्वारा ही ये ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित कर लेते हैं।

इस कारण हे अर्जुन! पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले पापी (काम) को नष्ट कर।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इन्द्रियाँ बलवान कही जाती हैं। इन्द्रियों से बलवान मन है और मन से बलवान बुद्धि है और बुद्धि से भी परे (अधिक बलवान) जीवात्मा है।

इसलिए बुद्धि से भी ऊपर अपने जीवात्मा को जानकर बुद्धि के द्वारा अपने आप (मन और इन्द्रियों) को वश में करके काम रूपी घोर शत्रु को जीत।"[२०]

---

१९. कर्म को स्वार्थरहित होकर परमात्मा अर्पण कर करो तो उससे पाप नहीं लगता। केवल अपने लाभ के लिए किया कर्म अच्छा नहीं होता।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न पूछ लिया कि जब मनुष्य जानता है कि जो कर्म वह कर रहा है, वह पापयुक्त है तो फिर वह क्यों करता है?

कृष्ण का कहना था कि काम और क्रोध दो अवगुण ऐसे हैं जिनसे मति भ्रष्ट हो जाती है। काम, क्रोध रजोगुण की उग्रता से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान, बुद्धि तथा आत्मा को ऐसे धुँधला कर देते है जैसे दर्पण पर धूरि पड़ जाने से दर्पण गँदला हो जाता है अथवा धुएँ से अग्नि मद्धम हो जाती है। काम और क्रोध उसकी (जीवात्मा की) बुद्धि को तथा मन को गँदला कर देते हैं।

साथ ही यह कहा जाता है अग्नि जब जलती है तो इसके जलने से अधिक गर्मी उत्पन्न होती है और अधिक वस्तुओं को जलाती है। यह उत्तरोत्तर अधिक और अधिक शक्तिशाली होती जाती है। इसी प्रकार काम को कार्य करने दोगे तो ये और अधिक बढ़ेंगे। कम नहीं होंगे।

२०. इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और जीवात्मा ये उत्तरोत्तर अधिक और अधिक बलशाली हैं इस कारण, श्रीकृष्ण कहते हैं कि जीवात्मा से बुद्धि को नियंत्रण में करो और बुद्धि से अपने को (मन और इन्द्रियों को) वश में करके इस दुष्ट काम को मार डालो।

काम कामना करने वाली प्रवृत्ति को कहते हैं और यह ऊपर कहा जा चुका है कि कामनाओं के पूर्ण न होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से बुद्धि भ्रष्ट होती है और फिर सब कुछ नष्ट हो जाता है।

यहाँ कामनाओं पर नियन्त्रण पाने का उपाय बताया है। जीवात्मा से बुद्धि को वश में करो। बुद्धि से मन और इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है और इस प्रकार काम अर्थात कामनाएँ वश में हो जाती हैं।

काम अर्थात् कामनाओं को मारने का उपाय भी बताया है। इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कर्मों को ठीक मार्ग पर लाने का उपाय बता दिया है जिससे मनुष्य पापकर्मों से बच सकता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने की बात कही है। इन्द्रियों को मारकर निष्क्रिय करने की बात नहीं कही। वे लोग जो हाथ को सीधा खड़ा कर सुखा देते हैं अथवा सीधे खड़े रहकर टाँगों को शिथिल कर देते हैं अथवा पेड़ों के साथ लटक-लटककर पूर्ण शरीर को निष्क्रिय करने का यत्न करते हैं, वे इन्द्रियों और शरीर को भले ही मार डालें, परन्तु मन पर काबू नहीं पा सकते और मन बेलगाम रहने पर बुद्धि और जीवात्मा पर विपरीत प्रभाव पड़ता रहता है। अभिप्राय यह है कि ऊपर लिखी तपस्या गीता के कथनानुसार व्यर्थ और हानिकर है। गीता में इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने की बात कही है।

इस पूर्ण अध्याय में कर्म और योग तथा बुद्धि की विवेचना की गयी है। यह विवेचना इस कथन से आरम्भ हुई थी कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति धर्मयुक्त कर्म ही करता है और स्थित-प्रज्ञ विवेक, त्याग और कर्म से अलिप्त रहने से हुआ जा सकता है।

इस विवेचना पर अर्जुन को त्याग और कर्म का विरोध दिखाई देने लगा था। श्रीकृष्ण ने बहुत ही कुशलतापूर्वक बताया है कि विरोध नहीं है।

कर्म इन्द्रियों से होते हैं। इन्द्रियां मन के अधीन हैं। मन यदि बुद्धि और जीवात्मा के अधीन हो जाये तो कर्म सीधे मार्ग पर चलने लगते हैं।

सीधा मार्ग तो यह है कि कर्म किया जाये यज्ञ की भावना से। यज्ञ से अभि-प्राय है लोक-कल्याण की भावना से। उसमें अपना भला उतना ही होना चाहिए जितना दैव यज्ञ में अपना भाग होता है अर्थात् जितने से अपना निर्वाह हो सकता है।

कर्म फल को निर्वाह के लिए प्राप्त कर शेष किसको दे, यह यहाँ नहीं बताया।

चतुर्थ अध्याय

श्री कृष्ण उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।२।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।३।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—

इस अविनाशी योग का ज्ञान मैंने (ईश्वर ने) आदिकाल में विवस्वान को कहा। और विवस्वान ने मनु को कहा था और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को कहा।

इस प्रकार परम्परा से (पुत्र को पिता से) चलता हुआ यह ज्ञान राजर्षियों ने जाना और हे अर्जुन! यह योग बहुत काल से लोप हो चुका था।

वही पुरातन योग ही अब मैं तेरे लिए कह रहा हूँ। तू मेरा भक्त भी है और सखा भी है। इस कारण यह अति श्रेष्ठ तथा रहस्यपूर्ण बात तुम से कहता हूँ।[1]

---

१. इन श्लोकों में श्रीकृष्ण इस ज्ञान का इतिहास बता रहे हैं। सतयुग और त्रेता-युग की संधि पर एक महाप्लावन हुआ था। उस प्लावन से प्रायः पूर्ण सृष्टि विनष्ट हो गयी थी।

महाभारत में वन पर्व में इस महाप्लावन के इतिहास का वर्णन मिलता है। उस काल में भूमण्डल का शासक सूर्यपुत्र मनु था।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि सूर्य एक मानव राजा का नाम ही था। जैसे आजकल भी सूर्यप्रकाश, चन्द्रमोहन इत्यादि नाम होते हैं, वैसे ही एक राजा था सूर्य। उसका पुत्र मनु एक प्रतापी राजा था।

मनु को किसी विद्वान् ज्योतिषी (astronomer) से विदित हुआ कि

युगान्तर: प्रलय आने वाली है। उससे पूर्व पृथ्वी पर ताप बढ़ेगा और उस ताप से सब वनस्पतियाँ इत्यादि सूख जायेंगी, नदी-नाले सूख जायेंगे। केवल गहरे सागर ही रह जायेंगे।

इस जानकारी को प्राप्त कर मनु ने अपना और अपने कुछ गुरुजनों का जीवन बचाने के लिए एक पनडुब्बी बनवाई और जब ताप बढ़ने लगा तो उस पनडुब्बी में सबको बैठा कर उसने सागर में डुबकी लगा ली।

जब ताप का वेग कम हुआ तो भारी बादल छा गये और घोर वर्षा हुई। उससे पृथ्वी का बहुत-सा भू-भाग जलमग्न हो गया। फिर जब बादल छट गये और वर्षा थमी तो जल सूखने लगा। तब हिमालय का शिखर पहले दृष्टिगत हुआ। मनु की पनडुब्बी वहाँ जा लगी। पुनः नवीन सृष्टि वहाँ से आरम्भ हुई।

मनु ने पुनः विवाह किया और नवीन सन्तान उत्पन्न की। उसके साथ अथवा उसके समान ही जो अन्य बचे, उन्होंने भी नवीन सृष्टि की।

यह जलप्लावन के उपरान्त जो सृष्टि हुई, उसे ज्योतिष शास्त्र के अनुसार आज इक्कीस लाख वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्द जी ने एक स्थान पर यह लिखा है कि सृष्टि का आरम्भ हिमालय के पार्श्व में तिब्बत के पठार पर हुआ। वह इसी जलप्लावन के उपरान्त की सृष्टि का वर्णन प्रतीत होता है।

कृष्ण ने बताया है कि वह ज्ञान इस समय से ही परम्परा से चला आता है, परन्तु बीच काल में राजा तथा अन्य मनुष्य, कामनाओं में फंसकर इस योग ज्ञान को भूल गये थे।

श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह है कि उनका अपना इस जन्म का ज्ञान उनके कई जन्मों का संचित है।

ज्ञान कैसे संचित होता है? ऐसा माना जाता है कि ज्ञान तो पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही प्राप्त होता है। वह ज्ञान मन पर अंकित हो जाता है। उस ज्ञान के संस्कार मात्र जीवात्मा पर अंकित होते हैं।

संस्कार क्या होते हैं? यह प्रश्न लोगों को परेशान करता है। सामान्य जीवन में तो एक जन्म का ज्ञान दूसरे जन्म में नहीं जाता। यह इस कारण कि ज्ञान मन पर अंकित होता है और मन प्रकृति का एक अंश होने के कारण शरीर के साथ ही विनष्ट हो जाता है। जीवन काल में मन पर अंकित ज्ञान का आभास ही आत्मा पर पड़ता रहता है। सांख्य दर्शन में कहा है—

कुसुमवच्च मणिः। (सां० २-३५)

अर्थात् जैसे मणि के पास रंगदार फूल लाया जाये तो मणि भी उसी रंग से रंगी दिखायी देने लगती है।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन ने पूछा—

आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वान् का जन्म बहुत पहले हुआ था। इस कारण इस विद्या को आपने विवस्वान को कैसे कहा था, यह बताइये।[२]

यह मणि पर का रंग और जीवात्मा पर चित्त का प्रतिबिम्ब सामान्य कर्म की अवस्था में होता है। कुसुम के हट जाने पर रंग हट जाता है; परन्तु जब बार-बार एक कर्म किया जाये तो उसका प्रभाव जीवात्मा पर स्थिर हो जाता है। जब प्रभाव केवल रंग का ही हो तो संस्कार कहाता है, परन्तु यदि प्रभाव पुष्प की सुगन्धि का भी हो तो यह कर्म की स्मृति कहाती है। यह योग साधना से सम्भव है। योग क्रियाओं में समाधि अवस्था में चित्त की वृत्तियों का जीवात्मा पर चिर-स्थाई प्रभाव पड़ता है।

२. श्रीकृष्ण एक योगनिष्ठ आत्मा थे और वह अनेक जन्म लेते रहे हैं। वैसे तो अर्जुन का आत्मा भी अनगिनित जन्म ले चुका था, परन्तु कृष्ण का जीवात्मा योगनिष्ठ होने से उन जन्मों की बात को जानता था और वे उसे स्मरण थे।

शरीर पंच-भौतिक है और कृष्ण का आत्मा योगनिष्ठ होने के कारण पंच-भूतों का ईश्वर (स्वामी) है। वह जब चाहे उस पंच-भौतिक शरीर में आता है और जाता है।

इन श्लोकों में यह बताया है कि महाराजा सूर्य ने मनु को ज्ञान दिया था। मनु से इक्ष्वाकु द्वारा इसकी परम्परा चली आ रही थी। उसी परम्परा से यह ज्ञान कृष्ण को प्राप्त हुआ था।

यद्यपि लोकों में यह ज्ञान विलुप्त हो गया था, परन्तु कृष्ण को अपने पूर्व-जन्मों की स्मृति से ज्ञान स्मरण रहा था।

वह ज्ञान क्या है? गीता के प्रवक्ता ने गीता के दूसरे और तीसरे अध्याय में बताया है—

(अ) जीवात्मा बुद्धि की सहायता से कर्म करे;

(आ) बुद्धि को स्थिर (स्थित-प्रज्ञ) करना चाहिए;

(इ) स्थित-प्रज्ञ पुरुष निश्चयात्मक होता है और निष्काम भाव से कर्म करता है।

(ई) निश्चयात्मक भाव से अभिप्राय है अपना स्वार्थ लोक-कल्याण में ही समझना, अपना पृथक् कुछ भी स्वार्थ न रखना;

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

(हे अर्जुन!) मेरे और तेरे भी बहुत जन्म व्यतीत हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता और मैं जानता हूँ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं (मेरा आत्मा) अविनाशी होने पर भी सब भूतों (पंचभूतों) का स्वामी है। वह प्रकृति (भूतों) को अपने अधीन कर अपनी शक्ति से प्रकट होता है।[३]

(उ) इससे मनुष्य कर्म करता हुआ भी संसार में किये गये कर्मों के फल से लिप्त नहीं होता।

यह ज्ञान कृष्ण को था और यही उसने अर्जुन को दिया था। एक वाक्य में यह ज्ञान था कि धर्म की स्थापना के लिए हत्या क्षम्य है और धर्म का निश्चय करने के लिए स्थिर बुद्धि होनी चाहिए।

३. श्री तिलक भूतों का अर्थ प्राणी करते हैं। स्वामी शंकराचार्य ने 'भूतानामीश्वरः अपि' का अर्थ किया है—(भूतानां) ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तानाम् अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (लकड़ी के खम्भे) तक, सबका स्वामी। ब्रह्म जगत् निर्माता माना जाता है।

ये दोनों अर्थ उपयुक्त नहीं हैं। भूत का अभिप्राय पंच-महाभूत है, जिनसे शरीर बना है। एक योगी भूतों को अपने वश में कर लेता है। यह है अभिप्राय श्रीकृष्ण का। एक योगी स्वेच्छा से जन्म लेता है, ऐसा ही कृष्ण ने अपने विषय में कहा है।

इस भाव को ही अगले श्लोकों (७, ८) में स्पष्ट किया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब जन-धर्म की हानि होती है तब मैं (मुझ जैसी आत्माएँ) धर्म को पुनः प्रतिष्ठित कराने के लिए जन्म लेता हूँ। योगीजन साधुओं का भय दूर करते हैं और दुष्टों का विनाश करते हैं तथा धर्मों की स्थापना करते हैं।

कृष्ण में उपस्थित जीवात्मा एक योगी का आत्मा था। कदाचित् वह मुक्त आत्मा था। जब कहा गया कि 'सम्भवामि युगे-युगे' तो इसका अभिप्राय यही है कि मुक्त जीव समय-समय पर जन्म लेते हैं।

क्या भिन्न-भिन्न अवतारों में केवल एक वही आत्मा है जो कृष्ण का था? यह सम्भव नहीं है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब मुक्त आत्मा परमात्मा हो जाता है। परन्तु यह श्रीकृष्ण के अपने कथन से ही सत्य सिद्ध नहीं होता। यह हम उचित स्थान पर बता चुके हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं धर्म के उद्धार के लिए अपने शरीर को रचता हूँ (प्रकट करता हूँ)।

समय-समय पर मैं साधूजनों के भय को दूर करने के लिए, दूषित कर्म करने वालों (दुष्टों) के विनाश के लिए तथा धर्मों की स्थापना के लिए जन्म लेता हूँ।[४]

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

मेरा जन्म और मेरे कर्म भी दिव्य हैं। जो इस प्रकार तत्त्व से जानता हूँ, देह त्यागने के उपरान्त यह पुनः जन्म नहीं लेता और मुझे प्राप्त होता है।

राग, क्रोध और भय को त्यागकर, मेरे आश्रय होकर, (मेरे कहे अनुसार कर्म कर) अनेक जन ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मेरे ही स्वरूप को पा चुके हैं।[४]

---

४. श्लोक ४-७, ८, ९, १० यह कहते प्रतीत होते हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब परमात्मा धर्म की स्थापना के लिए और साधुओं के भय के मोचन के लिए जन्म लेता है। अन्त में श्लोक ४-१० से भी कुछ ऐसा ही प्रकट होता है कि श्रीकृष्ण ने अपने को परमात्मा मानकर यह कहा है कि परमात्मा के जन्म और कर्म दिव्य होते हैं और जो इनके रहस्य को जान जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर और उसके परायण होकर, उसमें ही मिल जाता है।

वस्तुतः इन श्लोकों का यही अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण का जीवात्मा जन्म-जन्मान्तर की योग-क्रियाओं के कारण ऐसी शक्ति प्राप्त कर चुका था कि वह अपने लिए पंच-भौतिक शरीर इच्छानुसार निर्माण कर सकता था और वह स्वेच्छा से जन्म में आता था। उसका मनुष्य जीवन में आना निष्प्रयोजन नहीं है। वह धर्म की स्थापना के लिए और श्रेष्ठ व्यक्तियों के भय निवारण के लिए ही जन्म लेता है।

योगिराज श्रीकृष्ण का जन्म और उसके कर्म दिव्य (चमत्कार पूर्ण) थे और जो उस चमत्कार का रहस्य जान जाता है, वह स्वयं राग, क्रोध, भय को पार कर उस जैसा ही हो जाता है। 'मुझसे आ मिलता है और मुझ जैसा हो जाता है' का यही अभिप्राय है।

यह बात कि योगिराज कृष्ण का जीवात्मा दिव्य जन्म लेता हुआ दूसरे जीवात्माओं की श्रेणी का ही जीवात्मा था, महाभारत के लेखक ने स्वयं कहा है और श्रीकृष्ण के मुख से भी कहलाया है।

महाभारत युद्ध के उपरान्त एक बार अर्जुन ने श्रीकृष्ण से गीता का उपदेश पुनः सुनने की इच्छा प्रकट की तो कृष्ण ने कहा—

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्॥
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व १६-११, १२, १३)

अर्थ—हे पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम श्रद्धाहीन हो और मंद मति हो। हे अर्जुन! अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता।

वह धर्म (जो गीता में वर्णन किया था) ब्रह्म पद को प्राप्त कराने की सामर्थ्य रखता था। वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूप में दुहरा देना मेरे वश की बात नहीं है।

मैंने उस समय योगयुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन किया था। उसको बताने के लिए मैं एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करता हूँ।

इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् परमात्मा नहीं थे। उन्होंने गीता प्रवचन योगस्थ (परमात्मा से सम्बन्ध बनाये हुए) अवस्था में किया था।

अतएव हम मानते हैं कि गीता में जहाँ भी 'मैं', 'मेरा', 'मुझे' इत्यादि सर्व-नामों का प्रयोग किया गया है, वह कृष्ण ने अपने लिए नहीं किया वरन् परमात्मा के लिए किया है।

साथ ही इन श्लोकों में श्रीकृष्ण ने जो कहा है कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं तो यह परमात्मा के लिए नहीं कहा, वरन् अपने जन्मों के लिए कहा है। कृष्ण ने अपने को एक मुक्त जीवात्मा मान कल्याण कार्य के लिए जगत् में आने की बात कही है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

जो मुझे भजते हैं (मेरे पदचिह्नों पर चलते हैं), मैं उनको भजता हूँ (उनको अपना ऐश्वर्य बाँट कर चलता हूँ)। जो मनुष्य मेरा अनुवर्तन करते हैं (मेरे बताये मार्ग पर चलते हैं) हे अर्जुन! वे मेरे मार्ग पर आ जाते हैं।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

जो मनुष्य इस लोक में कर्मों की सिद्धि की इच्छा करते हैं, वे यहाँ के देवताओं का अनुकरण करते हैं। उनको कर्मों का फल भी शीघ्र मिल जाता है।[5]

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

गुण कर्म के अनुसार चार वर्ण रचे गये हैं। ऐसा रचने पर भी मुझे तू न रचने वाला जान।[6]

---

५. श्लोक ४-१२, ११ में यह कहा है कि जो मेरी भाँति विचार करते हैं और मेरी भाँति व्यवहार करते हैं, वे जो कुछ मुझे प्राप्त है, उसके भागीदार बन जाते हैं।

प्रत्येक महापुरुष ऐसा कहता सुना जाता है कि मेरे कहे अनुसार व्यवहार करोगे तो मुझ जैसा ही हो जाओगे। यही बात श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं।

आगे यह भी कहा है कि जो इस संसार में उन्नति करना चाहते हैं, वे इस संसार के देवताओं का भजन् अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उनका प्रयोग करते हैं। देवताओं से अभिप्राय प्राकृतिक शक्तियां है तथा संसार में ज्ञानी मनुष्य भी है।

देवताओं के भजन से फल इस जन्म में ही मिलता है। इसका फल अगले जन्म तक नहीं जाता। इस विषय को आगे सातवें अध्याय में स्पष्ट किया है।

६. मानव समाज में चार वर्णों की व्यवस्था जाति के महापुरुषों ने की थी। ये वर्ण ईश्वरीय नहीं हैं। ईश्वरीय होते तो जन्म के समय इनके लक्षण दिखाई देने लगते।

(क्योंकि) मैं (गुण, कर्म, स्वभाव से वर्ण व्यवस्था करते हुए भी) कर्म से लिप्त नहीं होता, न ही मुझे कर्म के फल से स्पृहा (मोह) है। जो इस प्रकार मुझको जानते हैं, वे भी कर्मों से बँधते नहीं।

पूर्व काल में हुए मुमुक्षुजन (जो मुक्ति पाने के योग्य लोग थे) वे भी ऐसा जानकर कर्म करते हुए इस योग्य हुए थे। इसलिये तू कर्म को वैसे ही कर जैसे पूर्व के (मुमुक्षुजन) करते रहे हैं।[७]

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित हैं (भ्रम में फँसे हुए हैं)। मैं तेरे लिए कर्म के तत्त्व को भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ (कर्म के शुभ-अशुभ फल) से बच जायेगा।

मानव समाज में व्यवस्था रखने के लिये समाज के चार भाग कर दिये हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक मनुष्य कभी क्षत्रिय का कार्य करता हुआ ब्राह्मण का कार्य करने लगता है। सब मनुष्यकृत व्यवस्थाओं में ऐसा ही होता है। एक व्यक्ति चपरासी के रूप में कार्य करता हुआ अधिकारी बन सकता है। बचपन में उच्छृंखल स्वभाव रखता हुआ बड़ा होने पर ब्राह्मण का कार्य कर सकता है।

वेद में एक मंत्र है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत ॥

यजुः ३१-११

मानव समाज में इन स्वभावों के मनुष्य देखे जाते हैं। परन्तु कौन ब्राह्मण है अथवा कौन क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र है, यह तो देश के विद्वान् ही निश्चय कर सकते हैं।

कृष्ण भी यही कहते हैं कि देश के विद्वान् लोग चार वर्णों का विधान करते हैं। ऐसा करते हुए वे इसमें अपना हित कुछ नहीं रखते।

७. श्री कृष्ण कहते हैं कि वह स्वयं इस (वर्ण विधान) अथवा अन्य किसी भी कार्य में लिप्त नहीं होते। न ही उन्हें कर्मफल से मोह है। इस प्रकार जानकर पूर्व में महापुरुष कर्म करते रहे हैं। अर्जुन को भी चाहिये कि इसी प्रकार अलिप्त रहता हुआ, कर्मफल के मोह को छोड़कर कर्म करे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म के, अकर्म के और विकर्म के स्वरूप को जानना चाहिये। क्योंकि कर्मों की गति गहन (जानने में कठिन) है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखता है और जो अकर्म में कर्म को (देखता है), वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी कर्मों को भलीभाँति करने वाला है।[८]

---

८. श्लोक ४-१८ के विषय में भाष्यकारों में मतभेद है। उदाहरण के रूप में श्री तिलक कर्म, अकर्म और विकर्म की व्याख्या करते हैं—

'कर्म के फल का बन्धन न लगने के लिए गीता शास्त्र के अनुसार साधन है कि निःसंग बुद्धि से अर्थात् फल की आशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से कर्म किया जावे।'

श्री तिलक आगे लिखते हैं, 'अतः इस साधन का उपयोग कर निसंग बुद्धि से जो कर्म किये जायें, वही गीता के अनुसार करणीय (सात्त्विक) कर्म हैं।'

हम समझते हैं कि यहाँ कर्म का अर्थ है करने योग्य कर्म। चाहे तो उसके फल से मोह हो जाये, चाहे न हो। फल से मोह होना अथवा मोह न होना पृथक् बात है। यहाँ सामान्य रूप में करने योग्य कर्म को कर्म कहा है और इसके विपरीत न करने योग्य कर्म को विकर्म माना है।

श्री तिलकजी कहते हैं—तामस कर्म मोह और अज्ञान हुआ करते हैं। इसलिये उन्हें विकर्म माना है।

हमारा मत है कि राजसी कर्म भी कभी-कभी अकर्म हो सकते हैं अर्थात् वे कभी-कभी अकरणीय होते हैं।

गीता १८-२४ में कहा है कि जो कर्म कर्मफल की इच्छा से युक्त होकर यदि भारी परिश्रम से किये जायें तो वे राजसी कर्म होते हैं।

संसार में इस प्रकार किये कर्म भी कभी करणीय हो जाते हैं। जैसे भीम का दुर्योधन से गदा युद्ध के पूर्व का राजसी व्यवहार था। परन्तु दुर्योधन की हत्या करणीय थी। इस कारण यह कर्म ही था।

और कभी-कभी राजसी कर्म अकरणीय भी हो जाता है। जैसे हिटलर का मध्य युरोपीय राज्यों पर आक्रमण था।

कर्म वह है जो उपस्थित परिस्थितियों में करणीय हो और विकर्म वह है जो उपस्थित परिस्थितियों में न करने योग्य हो।

गीता का प्रवक्ता कहता है कि जो मनुष्य करने योग्य कर्म को करता हुआ

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं और जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि से दग्ध (शुद्ध) किये हैं, उसे ज्ञानीजन पण्डित (विद्वान्) कहते हैं।

उसे अकर्म (न किया कर्म) समझता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है।

इसी प्रकार जो न करने योग्य कर्म (अकर्म) को न करता हुआ भी समझे कि वह कर्म कर रहा है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है। इस सब में उदाहरण दें तो बात स्पष्ट हो जायेगी।

एक चोर किसी के मकान को सेंध लगा रहा है। कोई व्यक्ति मार्ग पर चलता उसे देखने लगता है। चोर सेंध लगाने वाला उसे कहता है, 'मेरी सहायता कर दो। जो मिलेगा, मैं आधा दे दूंगा।'

ऐसी स्थिति में करणीय तो यह है कि या तो हो-हल्ला कर घरवालों को सचेत कर दे कि सेंध लग रही है अथवा यदि सामर्थ्य हो तो चोर को पकड़कर पुलिस के हवाले कर दे। ये दोनों बातें करणीय हैं। अतः ये कर्म हैं।

चोर के निमंत्रण को अस्वीकार करना अकर्म है। यह भी करणीय ही है। इस कारण यह अकर्म भी कर्म ही हो गया है।

चोर तो विकर्म कर रहा है। उस विकर्म में कौन-कौन व्यवहार कर्म है अर्थात् करने योग्य कर्म है?

पथिक का चोर को चोरी करने से रोकना कर्म है। यह करणीय है। चोर के काम में सहायता नहीं देना अकर्म होते हुए भी कर्म है क्योंकि करणीय है। चोर का काम तो विकर्म है।

यहाँ कर्म और अकर्म दोनों समान फल वाले हैं। विवाद कर्म और अकर्म में है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कर्म में भी अकर्म अकरणीय है? वस्तुतः कर्म में अकर्म अथवा विकर्म हो जाता है।

अर्थात् घर के लोग यदि चोर पकड़ने का यत्न कर रहे हैं और चोर भागने का यत्न करता है तो पथिक उसको पकड़वाकर घरवालों की सहायता कर सकता है। यह कर्म (करणीय कर्म) होगा। पथिक कर्महीन रहकर चोर को भागने का अवसर दे सकता है। यह कर्महीन होना अकर्म होते हुए भी विकर्म होगा।

इस प्रकार विकर्म (चोरी के कर्म) में सम्मिलित न होने की बात कर्म है। साथ ही विकर्म में सम्मिलित होना अकर्म होते हुए भी कर्म हो जायेगा।

इस कारण कर्म तथा अकर्म को समान समझने वाला मनुष्य बुद्धिमान माना जायेगा।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

कर्मफल का मोह छोड़कर अर्थात् उसके फल की इच्छा न कर, सदा तृप्त (प्रसन्न) रहने वाला व्यक्ति सदा अच्छी प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी, कुछ नहीं करता है। अभिप्राय यह है कि कर्मफल उसे नहीं बाँधते।[९]

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

चित्तात्मा (जिसके आत्मा ने चित्त (मन-बुद्धि) को नियंत्रण में कर लिया है, जिसने सम्पूर्ण भोगों को त्याग दिया है, वह बिना किसी प्रकार की आकांक्षा रखे, केवल शरीर के पालने योग्य कर्मों को करता हुआ, पाप को प्राप्त नहीं होता है।

अपने आप जो कुछ प्राप्त हो, उसमें ही सन्तुष्ट रहने वाला, हर्ष-शोकादि

---

९. उस व्यक्ति के कर्म और अकर्म एक समान होंगे जो अपने सब कर्मों के आयोजन में स्वार्थ की कामना और संकल्प (अपने लिए कुछ भी प्राप्ति की योजना) का त्याग कर देता है और जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि से दग्ध कर पवित्र कर लिये गये हैं (जैसे सोना तपा कर शुद्ध कर लिया जाता है।)

श्लोक ४—१६, १७, १८, १९, २० सम्बन्धित हैं। इनमें यह कहा है कि बुद्धिमान मनुष्य भी कभी-कभी कर्म (करने योग्य कर्म) और अकर्म (कर्म से तटस्थ रहने) में भेद नहीं समझ सकते। कर्म के तीन रूप हैं—कर्म (करने योग्य), विकर्म (न करने योग्य) और अकर्म (तटस्थ रहने योग्य)। अकर्म और कर्म में अथवा अकर्म और विकर्म में कुछ भेद नहीं। विकर्म से तटस्थ रहा जा सकता है और कर्म से भी तटस्थ रहा जा सकता है। जब कर्म से तटस्थ रहेगा तो वह फल प्राप्त होगा जो करणीय कर्म न करने से प्राप्त होता है। यही अभिप्राय है अकर्म में कर्म देखने का। इसका स्वाभाविक अर्थ यह भी होगा कि विकर्म से तटस्थ रहेगा तो वह अकर्म होते हुए भी कर्म ही होगा। ऐसा जो देखते हैं वे बुद्धिमान हैं।

इस कारण कर्म के फल की इच्छा को छोड़कर जो भी फल प्राप्त हो, उससे सन्तुष्ट हो, बिना प्रशंसा निन्दा का विचार किये जो कर्म में लगा रहता है, वह सब कुछ करता हुआ भी कर्म नहीं करता, ऐसा माना जायेगा।

द्वन्द्वों से दूर हुआ, ईर्ष्या से पृथक्, सिद्धि-असिद्धि में समभाव रखता हुआ व्यक्ति कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता।

फल के मोह से मुक्त हुए तथा ज्ञान में स्थित चित्त वाले, यज्ञ के निमित्त (यज्ञरूप) आचरण करने वालों के सब कर्म (फल) विलीन हो जाते हैं।[10]

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हुविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
(ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

यज्ञ कर्म (हवन में आहुति डालने वाला स्रुवादि पात्र) ब्रह्म है। हविः (द्रव्य जो हवन में डाला जाता है) ब्रह्म है। अग्नि भी ब्रह्म है और यज्ञ करने वाला भी ब्रह्म है। जो हवन किया गया द्रव्य है, वह भी ब्रह्म है। जो यज्ञ कर्म में लीन मनुष्य है, उस द्वारा प्राप्त होने वाला फल भी ब्रह्म ही है।

दूसरे योगीजन (वैज्ञानिक) देवताओं का पूजन (प्राकृतिक शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर उनका प्रयोग) भी यज्ञ रूप ही करते हैं अन्य योगीजन ब्रह्माग्नि में इस यज्ञ को यज्ञ के द्वारा हवन (त्याग) करते हैं।[11]

---

१०. विवाद आरम्भ हुआ था कर्म और अकर्म में।

श्री कृष्ण कहते हैं कि कर्म और विकर्म परस्पर विरोधी हैं और अकर्म परि-स्थितियों के कारण कर्म भी हो जाता है तथा अकर्म भी हो जाता है। यह हम पिछली टिप्पणी में स्पष्ट कर चुके हैं।

परन्तु कभी-कभी कर्म अथवा विकर्म से तटस्थ रहता हुआ व्यक्ति भ्रम में फँस जाता है। वह संशय करने लगता है कि वह कहीं सुकर्मों का लाभ तो नहीं उठा रहा, अथवा विकर्म से तटस्थ रहता हुआ पापका भागी तो नहीं हो रहा? इस संशय का ही निवारण यहाँ किया है। कहा है कि प्रयत्न कर जो फल प्राप्त हो, यदि उसमें सन्तुष्ट रहे अथवा जो सिद्धि-असिद्धि में समभाव रहे, वह चित्त पर शासन करने वाला जीवात्मा यज्ञ रूप कार्य करता हुआ माना जा सकता है।

कर्म का यज्ञ रूप क्या है? वह अगले श्लोकों में बताया है।

११. इन श्लोकों में यज्ञों के कुछ रूपों का वर्णन किया है।

(अ) सबसे पहले देवयज्ञ की बात कही है। देवयज्ञ स्वतः ही यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ है सबका कल्याण करने वाला कर्म। देव यज्ञ में प्रयोग होने वाले स्रुवादि मंत्र, समिधा, घी सामग्री इत्यादि द्रव्य भी यज्ञ (कल्याण करने वाले) हैं। देव

कुछ अन्य लोग श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को संयम की अग्नि में यज्ञ करते हैं और दूसरे वाकादि कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण करते हुए यज्ञ करते हैं।[12]

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८॥

और दूसरे कई लोग सर्व इन्द्रियों के कर्मों को तथा प्राणों को योगाभ्यास की अग्नि में तपते हुए ज्ञान से उनको प्रकाशित करते हैं।[13]

कुछ लोग द्रव्य द्वारा, तप द्वारा यज्ञ करते हैं। दूसरे योग द्वारा यज्ञ करते हैं और कुछ स्वाध्याय रूपी यज्ञ अत्यन्त लगन से करते हैं।[14]

यज्ञ में यजमान, पुरोहित और अन्यकर्म करने वाले सब उस महान् कल्याण का अंग बन जाते हैं।

(आ) देवता पूजन भी यज्ञ है। देवता से अभिप्राय है प्राकृतिक शक्तियाँ। उनका ज्ञान प्राप्त कर उनका प्रयोग करना भी यज्ञ है। जो प्राकृतिक विषयों में अन्वेषण कर रहे हैं, वे अपने परिश्रम (बुद्धि) का ऐसे ही त्याग कर रहे हैं जैसे देव यज्ञ की अग्नि में हवि दी जाती है।

१२. यहाँ एक अन्य प्रकार के यज्ञ (कल्याणकारी कर्म) का वर्णन किया है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कर्म का सबके कल्याण के लिए प्रयोग करना। ज्ञानेन्द्रियों का उदाहरण इस प्रकार है। एक व्यक्ति दुर्ग के बुर्ज में बैठा दूरबीन से निरन्तर देख रहा है कि शत्रु सेना आ तो नहीं रही। यदि यह कार्य स्वार्थरहित हो किया जाता है तो यह चक्षुः इन्द्रिय का यज्ञ है। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों को संयम में कर यज्ञ रूप सर्वहिताय प्रयोग करना यज्ञ है।

१३. सब इन्द्रियों के कर्म और शरीर के सब प्राणों के कर्म भी पूर्ण शरीर को संयम में करके ज्ञान से दीप्त किये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि पूर्ण शरीर की सामर्थ्य लोक-कल्याण में अर्पण कर दी जाये। यह भी एक प्रकार का यज्ञ है।

१४. कुछ लोग धन-धान्य को यज्ञ रूप में देते हैं। लोग धन कमाते हैं और संयम से धन का संचय करते हैं, वे उस धन का प्रयोग यज्ञ (कल्याण) के लिए करते हैं।

अन्य लोग निरन्तर स्वाध्याय से ज्ञान अर्जन करते रहते हैं और उस ज्ञान को यज्ञ के रूप में प्रयोग करते हैं। यह लगन पूर्वक किया जाने वाला यज्ञ फलदायक है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कई योगीजन प्राण वायु को अपान वायु में और अपान वायु को प्राण वायु में त्यागते हैं तथा कई प्राण-अपान गतियों को रोक कर प्राणायाम के परायण होते हैं (करते हैं।)[१५]

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे लोग आहार को नियमित कर प्राणों को प्राणों में ही छोड़ते हैं। ये सब लोग यज्ञ के रहस्य को जानते हैं। यज्ञमय जीवन द्वारा इनके सब पाप नष्ट हो चुके हैं।[१६]

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

यज्ञ का शेष बचा हुआ ही उपभोग करने वाले लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। (अभिप्राय यह है कि सनातन यज्ञ में लोक कल्याण के कार्य सम्मिलित हो जाते हैं।) जो व्यक्ति यज्ञ-रूप कार्य नहीं करते, उनके लिए मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं होता तो परलोक (कैसे सुखदायक) होगा।[१७]

---

१५. प्राण भीतर जाने वाली वायु, अपान बाहर आने वाली गंदी वायु को कहते हैं। यहाँ अभिप्राय है कि भीतर तथा बाहर जाने और आने वाली वायु को नियमबद्ध (regulate) करने से (पूरक, रेचक, कुम्भक तीनों पर नियन्त्रण करने से) प्राणायाम का फल यज्ञरूप होता है। प्राणों को भीतर खींचना पूरक तथा बाहर निकालना रेचक कहलाता है। कुम्भक कहते हैं प्राण वायु को भीतर ही रोक रखना।

१६. प्राण को प्राणों में छोड़ना, का अभिप्राय है प्राण-शक्ति जो नियमित अन्न से प्राप्त होती है, उसका उपयोग प्राणों को ही सुदृढ़ करने में लगाना। प्राण शक्ति है जो अन्न से मनुष्य में निर्माण होती है। इस शक्ति का उपयोग और अधिक शक्ति प्राप्त करने में करना भी यज्ञ ही है। प्रायः योद्धा तथा योगाभ्यास करने वाले प्राण निर्माण करते हैं। उस शक्ति से वे अपने भीतर के अथवा संसार के पापों का नाश करते हैं। वे लोग भी यज्ञों का पालन करने वाले माने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि शरीर का पालन-पोषण और उसे सुदृढ़ कर उसका लोक-कल्याण के लिये प्रयोग हो तो मनुष्य यज्ञ कर रहा ही समझा जाता है।

१७. यज्ञ से बचा हुआ—अभिप्राय है कि जब कोई यज्ञकार्य किया जाये, पहले पूर्ण साधन उस कार्य को करने के लिये लगाये जायें। जब यह

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे बहुत से प्रकार के यज्ञ वेदों में वर्णित हैं। उन सबको कर्म समझो। उन सब को इस प्रकार जानकर (उनको करता हुआ) तू संसार से मुक्त हो जायेगा।[१८]

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

पूर्ण हो जाये तो शेष जो कुछ साधन बचे, उनको यजमान अर्थात् यज्ञ करने वाला अपने उपभोग में लाये। तब वह व्यक्ति यज्ञ के अर्थों को समझने वाला और उसके पूर्ण फल को भोगने वाला समझा जाता है।

उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति किसी गाँव अथवा मुहल्ले में अन्न की दुकान चलाता है। अन्न की कमी है। मान लो, उसके पास एक क्विन्टल गेहूं है और मुहल्ले अथवा गाँव के प्राणियों की संख्या पाँच सौ है तो प्रति प्राणी के भाग में बीस-बीस ग्राम अन्न आयेगा। दुकानदार अपने लिए भी सब के समान ही गेहूँ लेगा तो वह स्वयं यज्ञ का भागीदार बन जायेगा।

यह स्थिति भी हो सकती है कि प्रत्येक व्यक्ति को तीस-तीस ग्राम की आवश्यकता हो और दुकानदार के पास दो क्विन्टल गेहूँ है। सब को ३०-३० ग्राम देकर यदि उसके पास अपने लिए कम बचता है तो वह उस कम का ही उपभोग करता है। इस प्रकार शिष्ट (शेष बचा) यज्ञ शेष कहा जायेगा। ऐसा व्यक्ति, संसार में जो महान् यज्ञ चल रहा है, उसमें सम्मिलित समझा जायेगा। महान् यज्ञ का अभिप्राय है सृष्टि यज्ञ।

१८. ये जो ऊपर बहुत प्रकार के यज्ञ कहे हैं, सब वेदानुकूल हैं। दूसरे शब्दों में संसार के सब कार्यों में प्रयोग किये जा सकते हैं। गीता का प्रवक्ता कह रहा है कि इन सब प्रकार के यज्ञों से तीन यज्ञ श्रेष्ठ हैं।

यज्ञ रूप कोई भी किया कार्य संसार के बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाला है, परन्तु गीता के प्रवक्ता का मत है कि द्रव्य यज्ञों से ज्ञान रूपी यज्ञ श्रेष्ठ है।

द्रव्य यज्ञ का अभिप्राय है संसार का सब व्यवसाय जो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र करते हैं। शूद्र का सेवा कार्य भी तो यज्ञ रूप हो सकता है, जब वह समझे कि वह सेवा-कार्य करता हुआ दूसरों के कल्याण का हेतु हो रहा है। इस प्रकार की दृष्टि वाला व्यापार करता हुआ भी यदि लोक-कल्याण की भावना से व्यापार करे तो उसका कार्य यज्ञमय होगा और उसे संसार में मुक्ति दिलाने में सहायक होगा।

हे अर्जुन ! द्रव्य (धन धान्यादि) से किये जाने वाले यज्ञों से ज्ञानरूपी यज्ञ श्रेष्ठ है । संसार के सब कार्य ज्ञान में ही समाप्त होते है ।[१९]

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

ज्ञानियों की भली प्रकार चरण वन्दना कर, सेवा और निष्कपट भाव से प्रश्न तथा प्रति-प्रश्न द्वारा (शंका समाधान करके) ज्ञान प्राप्त कर । तब तत्व को जानने वाले ज्ञानी मनुष्य (प्रसन्न हो) तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे ।

उस ज्ञान को प्राप्त कर तू फिर मोह को प्राप्त नहीं होगा । और हे अर्जुन ! तू अपने में सब भूतों को देखेगा अर्थात् सब को अपने समान समझेगा और परमात्मा को अपने में पायेगा ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

यदि सब पापियों से भी तू अधिक पाप करने वाला होगा तो भी ज्ञान रूपी नौका द्वारा सब पापों को पार कर जायेगा ।

जैसे जलती हुई अग्नि उसमें डाले ईंधन को भी जला डालती है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है । अर्थात् तब कर्म फल नहीं देते ।[२०]

---

१९. ज्ञान यज्ञ का अभिप्राय है ज्ञान अर्जन करना और फिर सबको समान रूप से ज्ञानवान करने का यत्न करना ।

गीता का प्रवक्ता यह भी कहता है कि सब कार्य, बिना किसी अपवाद के, ज्ञान में ही समाप्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि संसार के प्रत्येक कार्य के मूल तक जाने पर पता चलेगा कि उसके मूल में ज्ञान ही है ।

ज्ञान के बिना किया कार्य लाभ नहीं देता । इस कारण किसी भी कार्य के मूल तक पहुँचने में उस कार्य का अन्त ज्ञान ही है ।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? इसके विषय में अगले श्लोक हैं ।

२०. यह कथन कि सब पाप फल नहीं देते, इसको समझने की आवश्यकता है । यह उस व्यक्ति के लिये कहा है जो अपने सब कर्मों को यज्ञ रूप अथात् लोक

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला अन्य कुछ नहीं । योग सिद्ध हो जाने पर अपने आप ही उस ज्ञान को पा लेता है ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि सब कर्मों का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है । कर्म योगी में समय पर ज्ञान स्वयमेव ही प्रकट हो जाता है ।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान् और संयत-इन्द्रिय व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त कर शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त करता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञानी तथा श्रद्धा से रहित और संशय करने वाला व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है (अशान्त चित्त रह कर दुःख और क्लेश पाता है) । जो व्यक्ति परमात्मा

कल्याण के निमित करने लगता है । ऐसा व्यक्ति जब किसी प्रकार का कर्म करने लगता है जिसे सामान्य मनुष्य पाप समझते हैं, इस पर भी यदि वह भली प्रकार जानकर और कर्म के मूल को समझता हुआ, उसे लोक-कल्याण के लिये करता है तो वह कार्य के दूषित फल को प्राप्त नहीं होता । उसकी यज्ञ की भावना ही फल देने वाली होती है ।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी । एक ज्ञानी नित्य किसी पार्क (सार्वजनिक स्थान) पर बैठ कर अपनी ज्ञानगोष्ठी करता है । उस पार्क की देख-रेख के लिये नियुक्त चौकीदार है । चौकीदार पार्क को पार्टी इत्यादि के लिये प्रयोग करने वालों से रिश्वत लेने का स्वभाव बनाये हुए है । वह उस ज्ञान गोष्ठी के आयोजकों से भी रिश्वत माँगता है । वह ज्ञानी पुरुष अथवा वहाँ उसका उपदेश सुनने वाले उसे रिश्वत देते हैं, तो इस पाप कर्म के फल के भागी नहीं होंगे ।

इसमें देने वाले का निजी कुछ भी स्वार्थ नहीं है । ज्ञानगोष्ठी सर्वहिताय होती है । उससे किसी को कुछ भी आर्थिक लाभ नहीं होता ।

यद्यपि रिश्वत देना पाप है, परन्तु देने वाले को यह पाप नहीं लगेगा । कारण, एक तो जिस कर्म के लिये वह रिश्वत दे रहा है, वह किसी प्रकार भी देने वाले के स्वार्थ का साधक नहीं । वह सर्वहिताय कर्म है । दूसरे, यह कर्म स्वतः ज्ञान प्रसार का है । इस कारण घूस लेने वाला तो पापी है, परन्तु देने वाला इस पाप से सर्वथा अलिप्त रहता है ।

के अस्तित्व पर ही संशय करता है, उसके लिये न इस लोक में सुख है, न उसे परलोक में सुख प्राप्त होता है ।[२१]

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ॥
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

हे अर्जुन ! जिसने योग द्वारा सब कर्मों को त्याग दिया है (जो निष्काम भाव से कर्म करता है) तथा ज्ञान से चित्त के संशय दूर कर लिये हैं जिसने,

---

२१. ज्ञान के सदृश्य पवित्र करने वाली वस्तु अन्य कोई नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति कर्म के मूल को समझता है (मूल में उद्देश्य यज्ञमय अर्थात् लोक कल्याण है) तो वह पापयुक्त कर्म करता हुआ भी किसी प्रकार के पापफल से दबेगा नहीं ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित है कि यह शान्ति कितने काल में प्राप्त होती है ?

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान होने में देर होती है, परन्तु ज्यों ही यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, कि वह जो कुछ कर्म कर रहा है, संशयरहित हो लोक कल्याण के लिये कर रहा है, तो फिर उस कर्म से चित्त को प्राप्त होने वाली शान्ति प्राप्त होने में देरी नहीं लगती ।

इसको अचिरेण (तुरन्त) होने वाला कहा है, कारण यह कि ज्ञान और इससे मिलने वाली शान्ति दोनों ही मन और मन से सीधे जीवात्मा तक पहुँचती हैं और मन तथा जीवात्मा परस्पर सम्पर्क में हैं। इस कारण एक की अवस्था दूसरे तक पहुँचने में देरी नहीं लगती।

वही ऊपर वाला उदाहरण लिया जा सकता है ।

पार्क में ज्ञानगोष्ठी लगाने वाले वहाँ के चौकीदार को रिश्वत देते हुए जब यह अनुभव करते हैं कि इसमें उसका अपना कुछ भी स्वार्थ नहीं, तो उनका यह अनुभव मन को तथा मन से जीवात्मा को तुरन्त होता है कि किसी प्रकार के पाप के वे भागी नहीं हैं । रिश्वत लेने वाला पापी है, देने वाला नहीं ।

इसके विपरीत अज्ञानी जो अपने कर्म को तत्त्व से नहीं जानता और कामनाओं से प्रेरित हो कर्म को करता है, वह कर्म करता हुआ उसकी सफलता-असफलता के विषय में संशित रहता है ।

ऐसे व्यक्ति को उस संशय के कारण इस लोक में तो अशान्ति प्राप्त होती ही है, परलोक में भी उसका जीवात्मा, अशान्ति के संस्कारों में फंसा हुआ जब जाता है तो वहाँ भी वह शान्ति नहीं पाता ।

ऐसे आत्मवान् (स्वावलम्बी) व्यक्ति को कर्म अथवा कर्मफल संसार में नहीं बांधते ।

इस कारण हे अर्जुन ! कामनाओं से रहित होकर हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशयों को ज्ञान की तलवार से छिन्न-भिन्न कर उठ और कर्म में जुट जा ।[२२]

---

२२. इस (चतुर्थ) अध्याय में गीता के प्रवक्ता ने कर्म और कर्मफल की व्याख्या की है। किया कर्म जीवात्मा पर संस्कार छोड़ जाता है और वह संस्कार जीवात्मा को भावी जन्म में अच्छे बुरे फलों में लपेटता रहता है ।

गीता के प्रवक्ता ने श्रीकृष्ण का ही उदाहरण दिया है। श्रीकृष्ण मुक्तजीव हैं। वह स्वेच्छा से जन्म लेते हैं। उसके जन्म लेने का उद्देश्य केवल लोक-कल्याण ही है। लोक-कल्याण का स्वरूप भी उसने बता दिया है । वह यह कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, वह जन्म लेते हैं और धर्म की स्थापना करते हैं। साधुओं के भय निवारण करना और दुष्टों का विनाश करना, उनका कार्य है ।

परन्तु साथ ही कह दिया है कि धर्म-अधर्म, साधु-असाधु में निर्णय कैसे किया जाये ?

वह बताया है कि कर्म के दो रूप हैं—कर्म और विकर्म । अकर्म का स्वतंत्र कोई महत्त्व नहीं है । वह कर्म अथवा विकर्म का सहायक ही होता है। इस कारण कर्म और विकर्म को ही समझने की बात है। इसके समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। प्रत्येक कर्म का मूल ज्ञान में है और उसे जानने से ही यह समझा जा सकता है कि कर्म क्या है तथा विकर्म क्या है ?

इस पर भी यदि मनुष्य निष्काम भाव से यज्ञ रूप होकर कर्म करे तो फिर घोर से घोर विकर्म भी उसे पाप से लिप्त नहीं करता ।

कर्म के मूल (ज्ञान) को जानना आवश्यक है। उसे जानकर संशय-रहित हो कर्म करने वाला इस लोक के बन्धनों में लिप्त नहीं होता ।

पंचम अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! आपने कर्मों के सन्यास की बात कही है और साथ ही कर्मयोग (निष्काम भाव से कर्म) की प्रशंसा भी की है। इनमें से निश्चय करके एक, जो मेरे कल्याण के लिये हो, वह कहें।[1]

---

१. गीता के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में कुछ पद हैं जिनमें कर्म के सन्यास का वर्णन आता है।

स्वामी शंकराचार्य का मत है कि 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (४-१८) से लेकर 'योगसंन्यस्त कर्माणम्' (४-४१) तक श्रीकृष्ण ने कर्मों के सन्यास की बात कही है।

वस्तुतः श्लोकों (४-१८ से ४-४१)का अर्थ ऐसा नहीं है कि उनसे कर्मों से सन्यास लेने का अर्थ निकले। उदाहरण के रूप में श्लोक ४-१८ में बताया है कि जो अकर्म को कर्म समझता है, वह ज्ञानी है। अकर्म का अभिप्राय है कर्म-विकर्म से तटस्थ हो जाना। यह सम्भव नहीं। क्योंकि अकर्म का भी प्रभाव तो होता ही है। अतः अकर्म भी कर्म हो सकता है अथवा विकर्म हो सकता है। अतः कर्म का सन्यास नहीं होता।

इसी प्रकार श्लोक ४-१९ में कहा है कि ज्ञानार्जन से दग्ध हुए कर्मों वाले को बुद्धिमान कहते हैं। इसका अर्थ भी कर्म-सन्यास नहीं है प्रत्युत कर्म को ज्ञान की अग्नि से पवित्र करना है। इसी प्रकार ४-४१ में 'योग संन्यस्त कर्माणम्' का अर्थ है योग द्वारा छोड़ दिये हैं कर्म जिसने। इसका अभिप्राय यह बनता है कि कर्म-योग द्वारा जिसने कर्मों के फल का ध्यान छोड़ दिया है।

हमारे विचार में इन श्लोकों में कर्मों के त्याग का भाव कहीं नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

कृष्ण ने कहा—

कर्मों का सन्यास और कर्म-योग (निष्काम भाव से किया कर्म) दोनों ही कल्याणकारी हैं, परन्तु इन दोनों में से निष्काम भाव से कर्म करना विशिष्ट है (अधिक कल्याणकारी है)।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

हे महाबाहो ! जो पुरुष न द्वेष करता है, न आकांक्षा रखता है, वह सदा सन्यासी ही है, क्योंकि द्वन्दो से रहित पुरुष सुखपूर्वक (सहज ही) संसार रूपी बन्धन से छूट जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य (ज्ञान के योग से कर्म को दग्ध करना) और कर्म-योग (अर्थात्

परन्तु जब इन श्लोकों का अर्थ स्वामी शंकराचार्य और श्री तिलक भी कर्म-सन्यास कर रहे हैं तब अर्जुन ने भी भूल से ऐसा अभिप्राय ही लिया होगा।

पूर्ण कथा में अर्जुन एक सामान्य बुद्धि का राजसी व्यक्ति माना गया है। अत. उसका श्रीकृष्ण के वचनों का मिथ्या अर्थ लगाकर यह प्रश्न करना विस्मय-जनक नहीं है।

हम समझते हैं कि अर्जुन पूर्व अध्याय में कहे वचनों का ठीक अभिप्राय नहीं समझ सका था। इसी कारण उसने एक निश्चित बात कहने के लिये श्रीकृष्ण को कहा।

२. व्यक्ति द्वेषरहित होकर, किसी प्रकार की अपने लिये कामना किये बिना जब कर्म करता है, तो उसे सन्यासी (छोड़े हुए कर्म वाला) ही समझना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण कर्मयोग (निष्काम भाव से कर्म) को ही सन्यास मानते हैं। दोनों एक ही हैं।

श्लोक ५-२ में गीता के प्रवक्ता ने ढीली भाषा का प्रयोग किया है। वह कहता है कि दोनों मार्ग श्रेयस्कर हैं। यह कुछ ऐसा है जैसे किसी बालक को समझाने के लिये कोई बड़ी आयु का विद्वान यह कहे, तुम ठीक कहते हो, परन्तु मेरे कहने और तुम्हारे कहने में अन्तर नहीं है।

अतः गीता में कर्म-संन्यास का उपदेश नहीं है।

निष्काम भाव से कर्म करना) इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानने वाला बाल बुद्धि है। पण्डित (ज्ञानी पुरुष) ऐसा नहीं मानते। एक में भी स्थित (लगा हुआ) दूसरे के फल को ही प्राप्त करता है।[३]

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

ज्ञान योग से जो कुछ प्राप्त होता है, वही निष्काम कर्म से प्राप्त होता है। जो व्यक्ति ज्ञान-योग और कर्मयोग को एक समझता है, वही ठीक समझता है।[४]

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे अर्जुन! (अयोगतः) कर्मयोग के बिना कर्मों का सन्यास भी कठिन है। (योगयुक्तः मुनिः) बुद्धियुक्त मननशील निष्काम कर्म करने वाला मनुष्य ब्रह्म

---

३. जो कुछ भेद है, वह कर्म को समझने में है। उसे गीता का प्रवक्ता सांख्य योग और कर्मयोग दो प्रकार से समझाता है।

सांख्य का अर्थ है सांख्यदर्शन में कहे अनुसार (अर्थात् ज्ञानानुसार)। सांख्य और ज्ञान में भेद नहीं है। जैसा सृष्टि का ज्ञान सांख्यदर्शन में वर्णित है, वह एक ही है। इस कारण सांख्य का अर्थ ही ज्ञान हो जाता है।

ज्ञान योग का अभिप्राय है बुद्धि के योग से किया गया कर्म। गीता का प्रवक्ता ऊपर कह चुका है 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि योगात् धनंजय' (२-४९)। बुद्धि के प्रभाव से परे जो कर्म है, वह बहुत हीन है। बुद्धि योग वाले कर्म अति श्रेष्ठ, श्रेयस्कर हैं। उसी की तुलना की जा रही है फल की इच्छा त्याग कर किये कर्म से।

दोनों समान फल देने वाले हैं और दोनों एक समान ही हैं। गीता का प्रवक्ता कहता है—

४. जो कुछ बुद्धि योग से किये कर्म से प्राप्त होता है, वही कुछ निष्काम भाव से किये कर्म से प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति बुद्धियोग ओर कर्मयोग को एक ही समझता है, वह ही तत्त्व को समझता है।

यहाँ हम यह बता देना चाहते हैं कि सांख्यदर्शन में कहे को हमने सांख्य योग कहा है। यह इस कारण कि सांख्य में प्रकृति, (सत्, असत्) से परमात्मा तक सब कुछ का निरूपण युक्ति (अनुमान प्रमाण) से किया है। इस कारण सांख्य और बुद्धि पर्यायवाचक शब्द हो गये हैं।

सांख्य परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

को (अध्यात्म ज्ञान को) शीघ्र ही प्राप्त होता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जिसका आत्मा शुद्ध हो चुका है, जिसने अपने शरीर और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो सब प्राणियों को अपने समान समझता है, ऐसा कर्मयोगी सब कुछ करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता।[५]

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्व को जानने वाला युक्त (कर्मयोगी) देखता हुआ, खाता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, सुनता हुआ, चलता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता हुआ तथा भींचता हुआ, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में संलग्न हैं, इस प्रकार समझता हुआ, यह शरीर

---

५. यहाँ पद है 'भूतात्मभूतात्मा'। भूत का अर्थ प्राणी भी है और भूत का का अर्थ पंच-भौतिक जगत् भी है। अतः इस पद का अर्थ बनता है जो सब प्राणियों में आत्मा को संसार का आत्मा मानता है। यहाँ आत्मा का अर्थ कार्य करने वाली शक्ति है। इसे प्राण कहते हैं।

इस प्रकार 'भूतात्मभूतात्मा' का अर्थ बनेगा वह शक्ति जो पूर्ण संसार का संचालन कर रही है। वह ही प्राणियों में कार्य करने की शक्ति है। प्राण परमात्मा की शक्ति है और वह जहाँ पूर्ण संसार का संचालन करती है, वहाँ प्राणी में भी कार्य करती है।

जो मनुष्य ऐसा जानता है और कर्मयोगी अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करने वाला है, वह मनुष्य सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी कर्मफलों से बँधता नहीं।

ऐसे मनुष्य के कर्म का लक्ष्य किसी को हानि पहुँचाना नहीं हो सकता। यथा सम्भव सबके कल्याण में ही वह कार्य करेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि गीता के काल में कर्म त्याग की महिमा श्रेष्ठ समझी जाने लगी होगी। वह कर्म सन्यास के विषय को मानता तो है, परन्तु उसमें तथा 'कर्मफल त्याग' में कुछ अन्तर नहीं समझता।

अन्तर केवल शब्दावली में है। एक शब्द है निष्काम। दूसरा है कर्मफल-त्याग। गीता का प्रवक्ता दोनों को पर्यायवाचक कहता है।

ही के कर्म कर रहा है, वह कुछ भी कार्य नहीं कर रहा, ऐसा मानता है;

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो पुरुष कर्म में आसक्ति (मोह) छोड़कर अपने कर्मों को ईश्वरार्पण कर देता है, वह जल में कमल पत्र की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

केवल इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा ही जो आसक्ति त्याग कर आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करता है;

ऐसा कर्मयोगी कर्मफलों को त्याग कर परम शान्ति (सुख) को प्राप्त करता हुआ अपनी निष्ठा (लक्ष्य सिद्धि) में लगा रहता है। और जो कर्मयोगी नहीं (अर्थात् फल की इच्छा करता है) वह फल की इच्छा करता हुआ कामनाओं के द्वारा बँधता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

जिसने वश में किया हुआ है (मन, इन्द्रियाँ और शरीर को) ऐसा पुरुष इस नौ द्वार वाले शरीर में रहता हुआ मन से सब कर्मों को छोड़कर आनन्द-पूर्ण स्थिति में रहता है।[६]

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

कर्म करने की प्रवृत्ति, कर्म तथा कर्म फल का संयोग, ये संसार का सृजन करने वाले परमात्मा ने ही बनाये हैं। यह स्वभाव ही है, जो कार्य कराता है।

(यहाँ अभिप्राय यह है कि अभ्यास द्वारा स्वभाव बदलना चाहिये, जिससे मनुष्य कर्मयोगी बने।)

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

---

६. श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि शरीर में रहता हुआ भी जीवात्मा जो मन से मोह छोड़ देता है, वह परम सुख पाता है।

सर्वव्यापक परमात्मा न तो किसी पाप के कर्म को और न किसी के शुभ कर्मों को ग्रहण करता है (अर्थात् इनमें हस्तक्षेप नहीं करता)। यह ज्ञान, अज्ञान से ढका हुआ है। प्राणी उनसे मोहित हो रहे हैं।[७]

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

और जिनके अन्तःकरण का अज्ञान, ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य के समान स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तत् (परमात्मा) की ओर लीन है बुद्धि और मन जिसका, उस (परमात्मा) में विश्वास है जिसका और परमात्मा के आश्रय है पुरुष का आत्मा, ज्ञान से पापरहित हो पुनः (इस संसार में) न लौटने वाली स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

---

७. भूतात्मभूतात्मा (५-७) का अर्थ हमने बताया है—परमात्मा की प्राण शक्ति जो सबमें उपस्थित है, वही अपने में है। इससे यह संशय उत्पन्न होता है कि यदि कर्म करने की शक्ति परमात्मा की है तो परमात्मा भी सब अच्छे-बुरे कर्म करता है।

यहाँ इन श्लोकों (५-१४, १५) में यह बताया है कि यद्यपि सबमें कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है, तो भी कार्य परमात्मा नहीं करता, न पाप-कर्म न ही अच्छे कर्म। न ही वह कर्म का फलों से संयोग करता है शक्ति पर-मात्मा की है, परन्तु उसका प्रयोग जीवात्मा करता है। इस कारण पाप-पुण्य का उत्तरदायी जीवात्मा है, परमात्मा नहीं।

इस विषय में ब्रह्म सूत्रों में भी कहा है—

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥१-३-१८॥

अर्थात् परमात्मा की शक्ति जो मनुष्य में होती है, उसका प्रयोग जीवात्मा के परामर्श से होता है।

यही यहाँ कहा है। परमात्मा की शक्ति मनुष्य शरीर में कार्य करती है, परन्तु वह न तो कर्म न करने के भाव में होती है और न ही कर्म के फल से संयोग को करने वाली है। परमात्मा किसी प्रकार के पाप-पुण्य का उत्तरदायी नहीं है।

परमात्मा की शक्ति जीवात्मा को मिली है और जीवात्मा ही इससे किये कर्म का उत्तरदायी है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को समभाव से देखने वाला पण्डित कहा जाता है ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इस जीती हुई अवस्था में ही, जिसका मन साम्यावस्था में (शान्त) दोष-रहित हो जाता है, ऐसे मनुष्य ने सम्पूर्ण संसार जीत लिया है और वह परमात्मा में स्थित हो जाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो प्रिय (मन को अच्छे लगने वाले) को प्राप्त कर प्रसन्न नहीं होता अथवा अप्रिय (मन को बुरे लगने वाले) को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा पुरुष स्थिर-बुद्धि, संशयरहित परमात्मा को जानने वाला और उसमें स्थित कहा जाता है ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाहरी स्पर्शादि विषयों में आसक्ति रहित आत्मा का जो सुख है, उसे प्राप्त होता है जो परमात्मा से युक्त हुआ अक्षय (न समाप्त होने वाले) सुख को अनुभव करता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

जो विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे निश्चय से दुःख के कारण होते हैं । वे अनित्य हैं । हे अर्जुन ! ज्ञानीजन उनमें लीन नहीं होते ।

शक्नोतीहैव यः सोढं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

शरीर छूटने से पहले ही (अर्थात् इस जन्म में ही) जिसके काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग (भाव) शान्त हो जाते हैं, वह मनुष्य इस लोक में सुखी हो जाता है ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो व्यक्ति अपने मन के भीतर सुखी है, मन में शान्ति रखता है और जो मन से ज्ञानवान् है, वह परमात्मा में लीन योगी परम शान्ति को प्राप्त होता है ।[८]

---

८. मन के दोषों (काम और क्रोध) के वेगों को जो जीत लेता है, वह मनुष्य इस शरीर में ही उस शान्ति को पा लेता है, जिसे निर्वाण का नाम दिया गया है ।

यहाँ जिस बात को समझने की आवश्यकता है, वह है मन का दोष-स्थान होना, परन्तु शान्ति प्राप्त होती है जीवात्मा को । यह कैसे होती है ?

जीवात्मा अपने पूर्वजन्म के कर्मफलों से बंधा हुआ, उन कर्मफलों के अनुरूप ही शरीर में आता है । शरीर दस इन्द्रियों का समूह है—पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । ये दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ मन से सम्बन्धित हैं । ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर का ज्ञान लाती हैं और कर्मेन्द्रियाँ उस ज्ञान के आधार पर कर्म करती हैं । मन ज्ञान का संचय स्थान है ।

सांख्य दर्शन में मन के विषय में इस प्रकार कहा है—

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ॥
तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥
स्मृत्यनुमानाच्च ॥ सां० २-४०, ४२, ४३

इन सूत्रों का अभिप्राय है कि मन दो प्रकार की इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) पर ऐसे कार्य करता है जैसे संसार में कर्मचारियों पर जमादार कार्य करता है । साथ ही कहा है कि यह सम्पूर्ण संस्कारों का आश्रय है । यह स्मृति का स्थान भी है ।

ऐसा है मन । इसी कारण यह संकल्प-विकल्प का स्थान है । एक बात और कही है—

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ सां० २-४६

अर्थात्—उस मन की चेष्टा कर्म द्वारा अर्जित होने से लोकवत् उस (जीवात्मा) के लिये होती है ।

लोकवत् का अभिप्राय है कि जैसे मुन्शी स्वामी के लिये लेखा-जोखा रखता है, वैसे ही मन जीवात्मा का कार्य करता है ।

इस मुंशी पर बुद्धि व्यवस्थापक की भाँति है ।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् । सां० २-४७

सामान्य कर्मों के करने में बुद्धि की प्रधानता है । जैसे संसार में किसी मुंशी का प्रबन्ध होता है ।

अतः सांख्याचार्य के अनुसार दोनों प्रकार की इन्द्रियों पर उनका चौधरी

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५।।

जिसके पाप नाश हो चुके हैं, द्विधा (संशय) छिन्न हो (मिट) चुकी है जिसकी, बुद्धि सब प्राणियों के हित में लगी हुई है, अपने में मस्त है, वह ऋषि (ज्ञानवान्) पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

काम क्रोध से रहित हुए और जीते हुए चित्त वाले, जिसका चित्त सजग हो गया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों को सब ओर से ब्रह्म (शान्ति) प्राप्त होता है ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।२८।।

बाहर के स्पर्शादि विषयों का बाहर ही त्याग करता हुआ, आँखों के ऊपर भवों के मध्य में (मन) को स्थित करता हुआ, नासिका में चलने वाले बाहर और भीतर आने-जाने वाले श्वास को सम करके जिसने मन, इन्द्रियों और बुद्धि को (नियंत्रण) में कर लिया है और जो मोक्ष की इच्छा वाला है, वह इच्छा, भय और क्रोध से छूट कर (इस शरीर में रहता हुआ भी) मुक्त ही जानना चाहिए ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।२९।।

यज्ञ और तप काभोक्ता (पालन करनेवाला) सब प्राणियों के साथ सुहृदय भाव रखने वाला, सब लोकों के ईश्वर परमात्मा को जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ।[१]

मन है । साथ ही मन संस्कारों का संचय स्थान है । मन इन कार्यों को करता है जीवात्मा के लिये । कर्मों में प्रधानता बुद्धि की रहती है अर्थात् दिनानुदिन के कार्यों में कार्य का निश्चय बुद्धि करती है ।

१. मन को नियंत्रण में रखने के लिये बुद्धि को बलवान बनाने की आवश्यकता है । उसको बलवान करने के लिये गीता के प्रवक्ता ने एक सामान्य सी प्रक्रिया बतायी है । आँखों के ऊपर भौहों के मध्य में ध्यान को केन्द्रित कर, नासिका से बाहर-भीतर जाने-आने वाले श्वास पर नियंत्रण करके मन और

बुद्धि को भी नियंत्रण में करे । तब यज्ञ (जिसके विषय में ४-२४ से ४-३८ में वर्णन कर चुके हैं) का परिश्रम से पालन करता हुआ, मनुष्य सब प्राणियों में समभाव रखता हुआ, इस लोक (जीवनकाल) में तथा नौ द्वारों वाले शरीर में रहता हुआ भी उस सुख और शान्ति को प्राप्त होता है, जो मोक्षावस्था में कही गयी है ।

इस (पाँचवे) अध्याय में प्रवचन का आरम्भ कर्मों के संन्यास तथा निष्काम भावसे कर्म करने में विवाद से किया गया है । गीता के प्रवक्ता ने अन्त में यह बताया है कि कर्म छूट नहीं सकते । इस कारण कर्म करने वाले मन को बुद्धि से नियंत्रण में कर, उसे परिश्रम से यज्ञ रूप में कार्य करने पर लगा दिया जाये तो इस जीवन में ही मोक्ष जैसी शान्ति और सुख प्राप्त हो सकता है ।

षष्ठ अध्याय

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

बिना किसी फल के आश्रय के (फल की इच्छा को त्याग कर) करने योग्य कर्म को जो करता है, वह संन्यासी और (कर्म) योगी (निष्काम कर्म करने वाला) है। संन्यासी वह नहीं जो कर्म को छोड़कर निरग्नि (आग जलाना छोड़े हुए अभिप्राय है दैनिक कर्म छोड़े हुए) है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव ! जिसको संन्यास कहते हैं, उसे तू योग (निष्काम कर्म करना) जान। संकल्पों को न छोड़ने से कोई भी व्यक्ति योगी (परमात्मा से युक्त) नहीं होता।[1]

---

१. गीता के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि संक्षेप में गीता शास्त्र का प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् कारणसहित संसार की अत्यन्त उपरति हो जाना है। वह (परम कल्याण) सर्व कर्म संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान निष्ठारूप धर्म से प्राप्त होता है। (गीता शंकरभाष्य उपोद्‌घात्)

स्वामी जी का यह कथन इस श्लोक से अशुद्ध सिद्ध होता है। गीता में फल की कामना छोड़कर किया कर्म ही कर्मयोग (निष्काम भाव में कर्म) कहा गया है। कर्मयोग ही संन्यास है। कर्म-संन्यास नहीं, वरन् कर्मफल का संन्यास करने को कहा है।

यह माना जाता है कि शंकराचार्य ईसा संवत् से पूर्व काल में हुए थे। इससे यह पता चलता है कि वेद के त्रैतवाद के विषय में संशय उस काल से पहले का है। महाभारत में भी त्रैतवाद और अद्वैतवाद में विवाद का उल्लेख है और गीता में दो आत्म-तत्त्वों के होने का निर्णयात्मक उत्तर है।

इस सब विवेचना का अभिप्राय यह है कि शंकराचार्य ने जो गीता के मत को उलटकर लिखा है, वह उस काल में फैले भ्रांत मत को सत्य सिद्ध करने का प्रयास है। इसी प्रयास से गीता के अर्थ विकृत हो गये हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

मुनि (मननशील पुरुष) कर्मयोग पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले (निष्काम भाव से कर्म करने की इच्छा वाले) के लिए कर्म को ही हेतु कहा है। उस योग पर आचरण करने वाले (निष्काम भाव से कर्म करने वाले) का शमः (फलेच्छा का अभाव) ही कारण बन जाता है।[2]

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब मनुष्य न तो इन्द्रियों के विषयों में और न ही कर्मों में लिप्त होता है, उस समय सब संकल्प छोड़ देने वाला व्यक्ति (कर्म) योग पर आचरण करता माना जाता है।[3]

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

(मनुष्य को चाहिए कि) अपना उद्धार (कल्याण) आप ही करे। अपने को पतन की ओर न जाने दे। क्योंकि मनुष्य स्वयं अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

---

२. जब कर्म करेगा तभी कर्म के फल का त्याग कर सकेगा। यदि कर्म ही नहीं करेगा तो किसके फल का त्याग करेगा ? इसी कारण गीता का प्रवक्ता कहता है कि कर्म के हेतु फल का त्याग करोगे तो तुम्हारा पद कर्मयोगी का हो जायेगा। फल की इच्छा का त्याग ही चित्त की शान्ति का कारण हो जाता है। फलेच्छा ही संकल्प कहाते हैं।

३. इन्द्रियों के विषयों का अर्थ है सुन्दर वस्तुओं को देखना, मधुर शब्दों को सुनना, सुगन्धित पदार्थों की गंध लेना, स्वादिष्ट भोजन लेना अथवा सुखकारक स्पर्श का स्वाद प्राप्त पाना। जो इन्द्रियों के इन अनुभवों को अर्थात् सुख अथवा दुःख को समान समझने लगता है और फिर उन विषयों को प्राप्त करने के लिए यत्न तो करता है, परन्तु उनमें आकर्षण अनुभव नहीं करता, वह व्यक्ति कर्मयोगी माना जाता है।

इस अवस्था का एक उदाहरण दिया जा सकता है। भोजन शरीर की पुष्टि के लिए लिया जाता है। परन्तु मुख में डालते ही इसका मीठा-कड़ुवा, नमकीन अथवा खट्टा स्वाद जिह्वा को मिलता है। गीता का प्रवक्ता कहता है कि भोजन पौष्टिक होना चाहिए, क्योंकि शरीर की पुष्टि के लिए ही भोजन किया जाता है। जब व्यक्ति उसके स्वाद (खट्टा, मीठा, नमकीन इत्यादि) का विचार नहीं करता, तब वह व्यक्ति कर्मयोग पर आचरण करता हुआ माना जायेगा।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अपने जीवात्मा का (वह) स्वयं ही बन्धु है । जिस आत्मा द्वारा अपने (मन, इन्द्रियों इत्यादि) को वह शत्रु जीतने की भाँति जीत लेता है, तब उनसे (मन, इन्द्रियों से) वह आप ही शत्रु की तरह वर्ताव करता है ।[४]

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने अपने आप पर (शरीर, इन्द्रियों और मन पर) नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, जिसका मन शान्त (कामनाओं से रहित) हो चुका है; जो व्यक्ति सर्दी, गर्मी तथा मान-अपमान में एक समान अनुभव करता है, वह परमात्मा में स्थित माना जाता है ।[५]

---

४. इन्द्रियों के विषयों से अनासक्ति और फिर उन विषयों को प्राप्त करने में यत्न करना, ये दोनों कार्य मनुष्य स्वयं ही करता है । इसमें कोई दूसरा उसकी सहायता नहीं कर सकता । इसे ही संयम कहते हैं । यह संयम बाहर से मनुष्य पर बलात लगाया नहीं जा सकता । इस कारण, गीता का प्रवक्ता कहता है कि मनुष्य स्वयं ही अपना कल्याण कर सकता है । कोई दूसरा उसके कल्याण में सहायक नहीं हो सकता ।

जो संयम बाहर से आरोपित होता है, वह संयम नहीं कहाता । यह दासता है । इससे मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता ।

वही उदाहरण, स्वादिष्ट भोजन का लिया जा सकता है । खट्टे, मीठे, स्वादिष्ट, अस्वादिष्ट को समान भाव से स्वीकार करने में जब मनुष्य स्वयं ही अपने व्यवहार का निर्माण करता है, तब यह संयम कहाता है । परन्तु यदि किसी परिवार में अथवा किसी बन्दीगृह में स्वादरहित भोजन करना पड़े, यह विवशता कहाती है । इसका फल वह नहीं जो स्वतः स्वीकार किये हुए संयम का होता है । विवश होकर निस्वाद भोजन लेने पर मानसिक उन्नति नहीं होती । तब वह लाभ नहीं होता जो संयम से होता है । संयमी मनुष्य ही कर्मयोगी कहा जाता है । इसी कारण कहा है कि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र, स्वयं ही अपना शत्रु हो जाता है ।

५. जिसने अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है और इन्द्रियों के विषयों में तथा कर्मों में समता प्राप्त कर ली है, जो सुख-दुःख एवं मान-अपमान में समभाव रहता है वह जीवात्मा परमात्मा में स्थित हो गया माना जा सकता है ।

परमात्मा में स्थित का अभिप्राय यह है कि वह जीवात्मा बाहरी संसार से

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

जो ज्ञान और विज्ञान से तृप्त (पूर्णरूप से अवगत) आत्मा, हृदय में स्थित है (इन्द्रियों के बाहर से सम्बन्धित नहीं), जो इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण रखता है, लोहा, पत्थर और सोने को एक समान देखता है, वह परमात्मा से युक्त, (स्थित) कहा जा सकता है ।[६]

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

(वह परमात्मा में स्थित व्यक्ति) सम्बन्धी, मित्र, अपने में रुचि न लेने वाला, मध्यस्थ (पक्ष-विपक्ष में समभाव रखने वाला), शत्रु और बन्धु में तथा साधु और पापी में समान भाव वाला होता है ।

पृथक् होकर अपने में स्थित परमात्मा से युक्त हो जाता है ।

परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्राणी के शरीर में भी है । जीवात्मा तो शरीर में मन, बुद्धि के स्थान के समीप एक छोटे से स्थान पर रहता है । उस स्थान को गुहा (cavity) कहते हैं । परमात्मा सर्वव्यापक होने से उस स्थान पर भी है, परन्तु जो जीवात्मा बाहर की इन्द्रियों के द्वारा बाहर के संसार से सम्बन्ध रखता है, वह समीप उपस्थित परमात्मा की ओर ध्यान नहीं कर सकता । जब जीवात्मा का इन्द्रियों द्वारा संसार से सम्पर्क छूट जाता है तो वह अपने ही समीप उपस्थित परमात्मा से युक्त हो सकता है । यही परमात्मा में स्थित होना है ।

६. 'ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मा' इस पद में विचारणीय बात यह है कि ज्ञान और विज्ञान किसको कहते हैं । गीता के प्रवक्ता ने इसकी व्याख्या सातवें अध्याय में भी की है ।

उस व्याख्या पर हम अपने विचार विस्तार सहित यथास्थान पर बतायेंगे । यहाँ इतना बताना ही पर्याप्त है कि पूर्ण विश्व को दो श्रेणियों में बाँटा जाता है । वे पदार्थ जो अव्यक्त हैं, एक श्रेणी में आते हैं तथा व्यक्त पदार्थ दूसरी श्रेणी में आते हैं ।

अव्यक्त पदार्थों के विषय में जानकारी ज्ञान है और व्यक्त पदार्थों के विषय में जानकारी विज्ञान है ।

अव्यक्त पदार्थों में दो पदार्थ परमात्मा और जीवात्मा अपरिणामी हैं, वे रूप नहीं बदलते । एक अव्यक्त पदार्थ मूल प्रकृति है, वह परिणामी (रूप बदलने वाली) है । प्रकृति का मूल रूप अव्यक्त है । इसके प्रथम दो परिणाम हैं महत् और अहंकार । ये दोनों भी अव्यक्त हैं । अहंकारों के उपरान्त परिमण्डल (atom) और परिमण्डलों से बनने वाले असंख्य पदार्थ सब व्यक्त हैं ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

एकान्त में स्थित है जिसका चित्त और आत्मा वासना से रहित होकर सदा परमात्मा में स्थित रहता है, वह शुद्ध, पवित्र स्थान पर जो न तो बहुत ऊँचा हो, न ही नीचा, कुशा, मृगछाल अथवा कपड़े का आसन लगाये।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उस आसन पर बैठकर और मन को एकाग्र कर तथा चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को नियंत्रण में कर आत्मा की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।[७]

अतः ज्ञान, परमात्मा, जीवात्मा, मूल प्रकृति तथा इसके अव्यक्त परिणामों (महत् और अहंकारों) के विषय में जानकारी का नाम है। और परिमण्डल (atoms) से लेकर जगत् के असंख्य पदार्थों की जानकारी को विज्ञान कहते हैं।

अतः ज्ञान-विज्ञान से अभिप्राय है पूर्ण जानकारी।

ऐसे ज्ञानी को तृप्त (पूर्ण रूप से अवगत) कहा है। जो जीवात्मा हृदय की गुहा में स्थित है, वह इन्द्रियों को नियंत्रण में कर परमात्मा में स्थित हो जाता है।

७. योगाभ्यास के लिए प्रारम्भिक क्रियाएँ इस प्रकार बतायी हैं—

(क) चित्त तथा आत्मा वासना से रहित हो। अभिप्राय है इन्द्रियों के विषयों से स्वतंत्र। मनुष्य के कार्य विषयों से प्रेरित होकर न हों वरन् कल्याण की भावना से हों।

(ख) परमात्मा में स्थित का अभिप्राय यह है कि मनुष्य एक क्षण के लिए भी न भूले कि इस संसार को नियंत्रण में रखने वाला एक तत्त्व है जो महान् शक्तिशाली है।

(ग) योगाभ्यास के लिए बैठने का स्थान उचित हो। यह स्थान साफ-सुथरा तथा पवित्र होना चाहिए। यह न बहुत ऊँचा हो, न ही बहुत नीचा। बैठने का स्थान स्थिर हो (जो हिलता न हो)। साथ ही स्थान पर आसन कुशा, मृगचर्म अथवा कपड़े का बिछा हो। सर्वश्रेष्ठ कुशा मानी गयी है। उससे कम अच्छा आसन मृगचर्म का है। सबसे घटिया कपड़े का आसन माना गया है।

(घ) ऐसे स्थान पर बैठकर चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं पर नियंत्रण कर मन को एकाग्र कर योगाभ्यास करे, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

शरीर, सिर और गर्दन को एक सीध में करके, स्थिर तथा निश्चल (बिना हिलने-डुलने वाला) हो जाये। अपनी नाक के अगले भाग पर दृष्टि केन्द्रित कर अन्य दिशाओं की ओर न देखे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित होकर, निर्भय, शान्त आत्मा से युक्त होकर, मन को वश में करे। मुझ (परमात्मा) में चित्त को लगा कर और मेरे (परमात्मा के) ही आश्रय अपने को कर दे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार आत्मा को परमात्मा में स्थिर कर नियत (निश्चित ज्ञान वाले) मन से मुझ (परमात्मा) में स्थित होकर योगी परम शान्ति को प्राप्त होता है।[८]

अन्तःकरण से अभिप्राय मन, बुद्धि और जीवात्मा है। कुछ लोग अन्तःकरण के अन्तर्गत जीवात्मा को नहीं मानते। मन, बुद्धि के साथ अहंकार को भी अन्तः-करण में मानते हैं। परन्तु अहंकार शरीर का अंग नहीं है। मन और बुद्धि तो महत् का अंश हैं। उनमें जब सात्विक, तैजस् अथवा तामस् गुण प्रधान होता है तब बुद्धि भी वैसी (सात्त्विकी, तैजसी अथवा तामसी) हो जाती है।

वस्तुतः चित्त में तीन आभ्यंतरिक पदार्थ होते हैं। मन, बुद्धि और जीवात्मा। जीवात्मा को भी करण इस कारण माना गया है क्योंकि सब-कुछ करने वाला तो यही है। बिना जीवात्मा के सहयोग के मन और बुद्धि भी काम नहीं करतीं।

(ङ) अन्त में बताया है कि योगाभ्यास का उद्देश्य क्या है। उद्देश्य है जीवात्मा की सामर्थ्य में वृद्धि और इसके लिये ज्ञान की उपलब्धि।

८. योग का लक्ष्य है जीवात्मा की सामर्थ्य को उन्नत करना। जैसे एक सैनिक की सामर्थ्य उसके उत्तम शस्त्रास्त्रों के होने से होती है और फिर उन शस्त्रास्त्रों को प्रयोग करने की विधि पर निर्भर करती है, वैसे ही एक योगयुक्त आत्मा की सामर्थ्य है उसके करणों का उन्नत होना। आत्मा के करण हैं मन तथा बुद्धि। मन ज्ञान का संचय स्थान है और बुद्धि उस ज्ञान को कार्य-दिशा देने का यंत्र है। जब दोनों उन्नत होते हैं तो जीवात्मा की सामर्थ्य उन्नत होती है। इस उन्नत सामर्थ्य से जीवात्मा निर्भय होकर परमात्मा में स्थित होता है और फिर परमात्मा के आश्रय होकर परम शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन ! यह योग न तो अधिक खानेवाले को सिद्ध होता है, न ही भूखे रहने वाले को । इसी प्रकार न अधिक सोने के स्वभाववाले को और न ही अत्यन्त जागने वाले को इसकी सिद्धि होती है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

यथोचित आहार और व्यवहार करने वाले को, कर्मों में उचित चेष्टा (प्रयत्न) करने वाले को और उचित मात्रा में शयन करने तथा जागने वाले को ही योग की सिद्धि होती है । योग तो दुःखों का नाश करने वाला है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

भली-भाँति वश में किया हुआ जब चित्त (मन तथा बुद्धि) और जीवात्मा हो जाता है तब वह (आत्मा) सब कामनाओं से स्पृहारहित (मोह से पृथक्) हो जाता है । इसे युक्त (योगी) कहा जाता है ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जैसे न बह रही वायु वाले स्थान में दीपक की लौ हिलती नहीं, वैसे ही योग में लगे हुए योगी का चित्त स्थिर हो जाता है ।[9]

यह गीता (३-४२,४३) में ही कहा जा चुका है कि इन्द्रियों से मन प्रबल है, मन से प्रबल है बुद्धि और बलवान बुद्धि से मन को जीत कर कामनाओं पर काबू पाओ ।

यहाँ, इस अध्याय में तदनुसार करने का उपाय बताया है । उपाय है योग । मन तथा बुद्धि को श्रेष्ठ बनाकर अर्थात् मन को श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त और बुद्धि को ठीक दिशा में ज्ञान का प्रयोग करने वाली बना कर जीवात्मा को आनन्दस्वरूप परमात्मा में स्थित करने से जीवात्मा परम आनन्द को प्राप्त करता है ।

वेदान्त दर्शन में कहा है—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ (ब्र० सू० १-१-१२)

अर्थात् अभ्यास (योगाभ्यास) से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है ।

९. श्लोक ६-१८,१९ में शब्द है 'आत्मन्येएव अवतिष्ठते' तथा 'आत्मनः योगम् युञ्जतः' । आत्मनि और आत्मनः का अर्थ है जीवात्मा में और जीवात्मा । कुछ भाष्यकारों ने इन शब्दों से अभिप्राय परमात्मा लिया है । परन्तु यह ठीक

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

योग के अभ्यास से नियंत्रित चित्त जब (विषयों से) उपराम (उदासीन) हो जाता है तो जीवात्मा अपने में परमात्मा को साक्षात् कर और उस (परमात्मा) में सन्तुष्ट (प्रसन्न—आनन्दित) हो जाता है ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

इन्द्रियों से परे, बुद्धि से ग्रहण करने योग्य जो अत्यन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है, उस अवस्था में तत्त्व की बात से विचलित नहीं होता ।[10]

नहीं है ।

योग द्वारा 'स्मृत' (मन) को जीवात्मा के अधीन करना चाहिये । कहा भी है कि इन्द्रियों की क्रियाएँ, मन तथा बुद्धि जीवात्मा के अधीन हो जाते हैं तो जीवात्मा परमात्मा में स्थित हो जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि चित्त कामनाओं के आश्रय कर्म न करता हुआ अपने (जीवात्मा के) कल्याण की बात विचार करता है तो जीवात्मा मोक्ष (परम शान्ति) को प्राप्त होता है ।

चित्त को स्थिर करने के लिये योग ही साधन है । योगदर्शन में कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ योगदर्शन १-२ ॥

चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है । अतः चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करने से चित्त आत्मा के कल्याण में स्थित हो जाता है । जैसे दीपक की लौ निश्चल वायु में डोलती नहीं, वैसे ही योगी का आत्मा स्थिर हो जाता है । अतः आत्मा से अभिप्राय परमात्मा नहीं, क्योंकि परमात्मा स्थिर हो जाता है, ऐसा अर्थ करना अशुद्ध है ।

१०. श्लोक ६-११ में जो 'स्थितश्चलति तत्त्वतः' कहा है वहाँ तत्त्व से अभिप्राय परमात्मा नहीं है । तत्त्व का अर्थ परमात्मा हो सकता है, परन्तु परमात्मा के अतिरिक्त सांसारिक विषय भी हो सकते हैं । योगाभ्यास का एक लक्ष्य सांसारिक रहस्यों को जानना भी है । योगदर्शन में कहा है—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ (१-४०)

और—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ (१-४१)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

जो इस (तत्त्व को जानकर उस पर स्थिर हो जाने की) स्थिति को प्राप्त कर उससे अधिक कुछ भी प्राप्त करने को नहीं, ऐसा मानता है, वह इस अवस्था में स्थित योगी घोर दुःख से भी चंचल नहीं होता ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

दुःख का संयोग छट जाना ही योग है । उस (योग) को जानना चाहिये उस योग को चित्त लगाकर और निश्चयपूर्वक करना चाहिये ।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्पों (इच्छाओं) के प्रभाव से उत्पन्न कामनाओं को विशेष रूप से छोड़कर मन के द्वारा इन्द्रियों को सब ओर से वश में करके—

शनैः-शनैः (विषयों से) उपराम होवे । (तदनन्तर) धैर्य से बुद्धि द्वारा आत्मा (जीवात्मा) में स्थित होकर कुछ भी चिन्ता न करे ।[11]

अर्थ हैं :—(पूर्वोक्त उपायों से स्थित चित्त में) महत् और परमाणु पर्यन्त पदार्थों का वशीकरण प्रत्यक्ष हो जाता है ।

और—जिसकी (सत्त्व, रजस्, तमस्) वृत्तियाँ क्षीण (विनष्ट) हो गयी हैं, उसके (जीवात्मा) निर्मल मणि के समान ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य विषय से समापत्ति योग स्थिति हो जाती है ।

अतः तत्त्व का अर्थ है जानने योग बात ।

११. श्लोक ६-२५ में और इसी प्रकार ६-२६ में मन को योगाभ्यास से इन्द्रियों के विषय से उपराम करने की बात कही है । 'आत्मसंस्थं' और 'आत्मनि एव वशं नयेत्' ।

इन दोनों स्थानों पर आत्म शब्द से अभिप्राय जीवात्मा है ।

कुछ भाष्यकारों ने इन स्थानों पर जीवात्मा का अर्थ परमात्मा किया है । यह गीता का मत नहीं है । गीता में पहले भी बता चुके हैं कि इन्द्रियों को मन से, मन को बुद्धि से और बुद्धि को जीवात्मा से नियंत्रित करे । योगाभ्यास भी जीवात्मा के लिये ही किया जाता है । इसमें आत्मा का कल्याण बुद्धि को तीक्ष्ण और सात्त्विक करने से होता है । इस सात्त्विकी बुद्धि से अपने मन के पूर्ण संकल्पों को आत्मा के कल्याण के लिये लगा दो ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यह चंचल मन जिस-जिस कारण से उलटे मार्ग पर चलता है, उस-उस विषय से इसे रोककर जीवात्मा में ही नियंत्रित करे ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

क्योंकि इस शान्त हुए मन से जो मलिनता (दोषों) से रहित हो गया है अर्थात् जिस मन का रजोगुण शान्त हो गया है, ब्रह्म में लीन योगी को अति सुख प्राप्त होता है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

मलिनता (दोषों) से रहित योगी सदा अपने आत्मा को (कर्म में) लगाता हुआ सुखपूर्वक इसके स्पर्श से ही अत्यन्त सुख की प्राप्ति को अनुभव करता है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

योगयुक्त (योगाभ्यास से युक्त) आत्मा अर्थात् जीवात्मा, जो सबको समान भाव से देखता है, वह सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में स्थित देखता है ।[12]

---

१२. इन श्लोकों में जहाँ आत्मा शब्द लिखा है, वहाँ अभिप्राय जीवात्मा है । गीता का प्रवक्ता परमात्मा के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग कर रहा है ।

यद्यपि कई स्थानों पर ब्रह्म से जीवात्मा का भी अर्थ लिया जाता है (जैसे श्वेताश्वतर उपनिषद १-९ में), परन्तु यहाँ श्लोकों में ब्रह्म का अभिप्राय परमात्मा है और आत्मा का अभिप्राय जीवात्मा है ।

यह कहा है कि (योगी अर्थात् योगाभ्यास से मनुष्य) अपने में सब प्राणियों को और अपने को सब प्राणियों में देखता है । अर्थात् वह सब प्राणियों में समभाव रखने लगता है ।

ऐसा योगी स्वतः परमात्मा के स्पर्श में आ जाता है ।

वास्तव में जीवात्मा परमात्मा के स्पर्श में तो सदा होता है, परन्तु उसका ध्यान इन्द्रियों के विषयों की ओर रहने से वह परमात्मा से स्पर्श को अनुभव नहीं करता । जब जीवात्मा इन्द्रियों के विषयों से अलिप्तता अनुभव करता है तो फिर उसे ब्रह्म (परमात्मा) का अनुभव होने लगता है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मुझ (परमात्मा) को सर्वव्यापक जानता है, वह सब प्राणियों को मुझ (परमात्मा) में (बना हुआ) देखता है। उस व्यक्ति के लिये मैं भी नष्ट नहीं होता और वह मेरे लिये नष्ट नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि उसका कल्याण मैं देखता हूँ और वह मुझसे अदृश्य नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो सब प्राणियों में एकमय होकर मेरा (परमात्मा का) भजन करता है, ऐसा योगी किसी प्रकार भी रहता हुआ सब प्रकार से मेरे अनुकूल व्यवहार ही करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपने को सबके सदृश्य आत्मवान् जान कर सब स्थान पर समान देखता है, वह सबके सुख और सबके दुःख में अपने को भी समझता है, वह परम योगी माना गया है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

हे कृष्ण ! जो यह योग सबसे समत्व भाव रखने वाला कहा है, वह स्थिति, चंचलता के कारण मैं कुछ अधिक काल तक बनी रहती नहीं देखता।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

यह इस कारण कि, हे कृष्ण ! यह मन चंचल, हठीला और बलवान है। इस लिये मैं समझता हूँ कि इसको वश में करना ऐसे ही दुष्कर है, जैसे वायु को वश में करना।

श्रीकृष्ण उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

हे अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि यह मन अति चंचल है और बहुत ही कठिनाई से वश में आता है, परन्तु हे कुन्तिपुत्र ! अभ्यास से और वैराग्य की भावना से यह वश में आ जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

जिसका मन विषयों की ओर भागता है, ऐसे व्यक्ति के लिये योग कठिनाई से सिद्ध होता है और जिसने कामनाओं को वश में कर लिया है, ऐसे मन वाला, यत्न करता हुआ व्यक्ति सहज ही मन को वश में कर लेता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

हे कृष्ण ! (यदि) कोई श्रद्धावान परन्तु दुर्बल मन वाला, योग करता हुआ व्यक्ति शिथिल हो (भटक) जाता है और योग को सिद्ध नहीं कर पाता, तो वह किस गति को प्राप्त होता है ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे कृष्ण ! क्या महान् (कल्याण के) मार्ग पर चलता हुआ मोहित हुआ व्यक्ति (वायु से) छिन्न-भिन्न हुए बादल की भाँति दोनों (सांसारिक सुख और योग सिद्धि) से भ्रष्ट तो नहीं हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

मेरे इस संशय को पूर्ण रूप से निवारण करने में आप समर्थ हैं। आपसे अधिक (समर्थ) संशय निवारण करने वाला मिलना सम्भव नहीं।

श्रीकृष्ण उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

हे अर्जुन ! उस पुरुष का न तो इस लोक में, न परलोक में (न वर्तमान में, न होने वाले जन्म में) नाश होता है, क्योंकि हे प्रिय ! शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट (होने पर भी ऐसा) व्यक्ति उन लोकों (जन्मों) को जो पुण्य कर्म करने वालों को प्राप्त होता है, प्राप्त करता है और उनमें चिरकाल तक वास करके श्रेष्ठ व्यक्तियों के घरों में जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वह ज्ञानवान् व्यक्ति योगियों के कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार का जन्म भी संसार में अति दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ (इस श्रेष्ठ परिवार में जन्म लेकर) उस (पूर्व के) शरीर में प्राप्त बुद्धि के संयोग से (श्रेष्ठ) बुद्धि (इस जन्म में भी) प्राप्त कर लेता है और उसके प्रभाव से पुनः सिद्धि के लिये यत्न कर सकता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

वह (नये जन्म में) विषयों के वश में फँसा हुआ भी, उस पूर्व जन्म के अभ्यास से निःसन्देह (परमात्मा की ओर) ले जाया जाता है। योग का जिज्ञासु (अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करने वाला) ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।[13]

---

१३. ६-४४ में शब्द है शब्दब्रह्म। इसका अर्थ कुछ भाष्यकार वेद करते हैं। हम समझते हैं कि शब्द का अर्थ वेद नहीं है। ब्रह्म का अर्थ है महान् और शब्द-ब्रह्म का अर्थ होगा महान् वाङ्मय अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्र (ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ)। वेद इनसे पृथक् है। अतः शब्द ब्रह्म का अभिप्राय शिल्प विद्या (technical knowledge) का ग्रन्थ भी हो सकता है। यहाँ ब्रह्म शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

यह ठीक है कि ब्रह्म का अर्थ वेद (त्रयी विद्या) भी किया जाता है। परन्तु ब्रह्म का अर्थ बड़ा, महान्, व्यापक इत्यादि भी है। और शब्द का अर्थ है वे ग्रन्थ जो मनुष्य ने बोलकर कहे हैं। अथवा जो विशेषज्ञ मनुष्यों के कहे हुए हैं, इस प्रकार शब्द का अर्थ विशेषज्ञों का कथन भी हो जाता है।

वे लोग जो स्वामी शंकराचार्य तथा उनके मत के अनुयायी हैं, वे मानते

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

निरन्तर प्रयत्न से यत्न करता हुआ पापों से शुद्ध होता हुआ अनेक जन्मों में सिद्धि पाकर परम् गति को पाता है।[14]

हैं कि वेद केवल कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। यह बात अशुद्ध है। वेद ज्ञान विज्ञान के ग्रन्थ हैं। अर्थात् प्रकृति तथा प्रकृति से बने द्रव्यों से लेकर परमात्मा तक, विश्व में सब कुछ का ज्ञान देने वाले हैं। वेद में परमात्मा, उसकी प्राप्ति और संसार बंधन से छूटने के विषय में भी कहा गया है। उदाहरण के रूप में वेद में (यजु० ४०-८) परमात्मा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—

जो परमात्मा सर्वशक्तिमान्, शरीर से रहित, छिद्ररहित, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन के रहित, और जो पाप में प्रीति करने वाला नहीं, जो सर्वज्ञ, सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जानने वाला, दुष्टों का तिरस्कार करने वाला, अनादिस्वरूप, सनातन यथार्थ भाव से सब पदार्थों को बनाता है, वह उपासना करने के योग्य है।

वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं, यह भ्रम यज्ञकर्मों में वेदमंत्रों का विनियोग करने वाले व्यक्तियों ने फैलाया है।

१४. श्लोक ६-४०, ४१, ४२, ४३, ४४ में यह प्रकट करने का यत्न किया गया है कि योगाभ्यास से सिद्धि प्राप्त करने में कई-कई जन्म लग जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि एक जन्म में किया अभ्यास अगले जन्म में भी फल देता है।

यह माना जाता है कि मन और बुद्धि प्रकृति का एक परिणाम ही हैं। इनकी बनावट वैसी ही होती है, जैसी महत् की है।

महत् प्रकृति के परमाणु होते हैं जिनमें गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है और यह भी कहा है कि मन तथा बुद्धि अणु मात्र हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मन कई कई परमाणुओं के संयोग से बना होता है। ऐसे ही बुद्धि बनती है।

यदि योग द्वारा शुद्ध किया मन तथा तीक्ष्ण बुद्धि का प्रभाव अगले जन्म में जाता है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मन और बुद्धि शरीर के विनष्ट होने के साथ विनष्ट नहीं होते?

शास्त्रोक्त मत तो यही प्रतीत होता है कि मन तथा बुद्धि शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं। फिर प्रश्न यह है कि एक जन्म के योगाभ्यास का फल अगले जन्म में कैसे जाता है?

यह इस प्रकार है—मन तथा बुद्धि, जीवात्माके साथ सम्पर्क रखने से अपनी श्रेष्ठता का प्रभाव जीवात्मा पर छोड़ जाते हैं। ये प्रभाव संस्कार कहाते हैं। संस्कार वैसा चित्रवत् नहीं होता जैसा फोटोग्राफ की प्लेट पर होता है। फोटोग्राफ की प्लेट पर तो वस्तु अथवा मनुष्य की रूप-रेखा की प्रत्येक

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्वी लोगों से, ज्ञानियों से और श्रेष्ठ कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इस कारण हे अर्जुन ! तू योगी बन ।[15]

व्याख्या जाती है । मन तथा बुद्धि की ऐसी व्याख्या जीवात्मा पर नहीं होती । जीवात्मा पर प्रभाव ऐसा होता है जैसे बिल्लौर के टुकड़े के पास कुसम रख देने से कुसम का रंग बिल्लौर में दिखाई देने लगता है । यही सांख्य दर्शन का मत है ।

परन्तु बिल्लौर में कुसम का रंग तो विलीन हो जाता है, जब बिल्लौर के समीप से कुसम को हटा लिया जाता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि बार-बार चित्त का प्रभाव जीवात्मा पर पड़ने से उस प्रभाव का संस्कार जीवात्मा पर स्थायी रूप में रह जाता है । यह संस्कार है । अभ्यास से संस्कार उत्पन्न होता है । आत्मा पर संस्कार एक जन्म से अगले जन्म में जाते हैं । इसी संस्कार के बल से अगले जन्म में जीवात्मा पुनः वैसे ही संस्कारों को पसन्द करता है और तब वैसे संस्कार गहरे होते जाते हैं । अन्त में संस्कार इतने सुदृढ़ हो जाते हैं कि फिर मोक्षावस्था में भी नहीं छूटते ।

१५. योगी से अभिप्राय है योगाभ्यासी । परन्तु यदि ऊपर कर्मयोगी के वृत्तान्त को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो दोनों में अन्तर प्रतीत नहीं होता । कर्मयोगी के लिये स्थित-प्रज्ञ तथा निष्कामी होना आवश्यक है। संसार से अलिप्त होना भी कहा है । इस पर जब बुद्धि की निर्मलता स्थापित हो जाये तो वह योगाभ्यास हो जाता है । योगाभ्यासी की बुद्धि की अन्तिम स्थिति ऋतम्भरा कहाती है ।

अभिप्राय यह है कि निर्मल (ऋतम्भरा) बुद्धि वाले बलवान जीवात्मा पर परमात्मा का रंग चढ़ना सुगम है । योगाभ्यास से यह रंग प्रबल होता जाता है और फिर जीवात्मा संसार से विरक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है ।

तपस्या का अभिप्राय है सांसारिक कार्यों के लिये किया गया परिश्रम । ज्ञान है सांसारिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना और सांसारिक दान-दक्षिणा करने वाले कर्मियों से योगी (कर्मयोगी तथा योगाभ्यासी) श्रेष्ठ हैं ।

अभ्यास करते-करते मनुष्य कर्मयोगी फिर योगाभ्यासी बन जाता है । अतः योगाभ्यासी श्रेष्ठ है और केवल सांसारिक कर्म करने वाला व्यक्ति उससे कम हैं ।

सांसारिक ज्ञान और लोक कल्याण के कर्म (यज्ञ) तब तक मोक्ष प्राप्ति में सहायक नहीं होते जब तक उनके साथ श्रेष्ठ बुद्धि का योगदान न हो । यह योगाभ्यास से सम्भव है ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सब प्रकार के योगियों में भी जो श्रद्धावान् (दृढ़ निष्ठा वाला) चित्त लगा कर मेरा (कृष्ण का) अनुकरण करता है, मुझको निरन्तर भजता (अध्ययन) करता रहता है, वह योगी मेरे मान और प्रशंसा का पात्र है ।[16]

---

१६. श्लोक ६-४७ में मद्गतेन शब्द है जिसका अर्थ है मेरी गति (मेरे कर्मों के अनुकूल) । भगवद्गीता में 'मम', 'मयी' इत्यादि शब्दों का अर्थ परमात्मा के व्यवहार के अनुसार किया है । परन्तु यहाँ हमने वैसा नहीं किया । इसमें कारण है ।

परमात्मा सांसारिक प्राणियों के समान कर्म नहीं करता । इस कारण मद्गतेन से यदि परमात्मा के व्यवहार का अर्थ लेंगे तो योगाभ्यास, कामनाओं का त्याग इत्यादि का अभिप्राय परमात्मा के सम्बन्ध में लेना होगा ।

चतुर्थ अध्याय में भी गीता के प्रवक्ता ने जब यह कहा कि मैं इक्ष्वाकु इत्यादि की धर्म मीमांसा का उपदेश दे रहा हूँ, तब वहाँ मैं का अभिप्राय यदुवंशी कृष्ण से ही था, परमात्मा से नहीं ।

व्याख्या अथवा भाष्य करने का नियम यह है कि अर्थ प्रसंग के अनुसार लगाये जाते हैं । प्रसंग हो सांसारिक प्राणियों तथा उनके व्यवहार का तो वहाँ परमात्मा को व्यवहार करने वाला नहीं बताया जा सकता ।

इस श्लोक में मद्गतेन का अर्थ यह भी हो सकता है कि परमात्मा के अधीन । परन्तु जब भिन्न-भिन्न प्रकार के योगियों में भेद करने की बात हो, तब अनुकरण करने के लिये कोई सांसारिक प्राणी ही बताया जा सकता है, परमात्मा नहीं ।

हमारा मत है कि गीता के प्रथम छः अध्यायों में मनुष्य को अपने परम कल्याण के लिये साधन तैयार करने के लिये कहा गया है ।

द्वितीय अध्याय में युद्ध में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी गयी है । पहले यह प्रेरणा दी है सांख्य सिद्धांत के अनुसार । प्रकृति तथा जीवात्मा का सम्बन्ध अन्त वाला है, ऐसा बताकर कहा कि जब यह संयोग टूटने वाला ही है तो फिर इसके टूटने के भय से अपना क्षत्रिय धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?

द्वितीय अध्याय के दूसरे भाग से छटे अध्याय के अन्त तक कार्य और कार्य के उद्देश्य की विवेचना की गयी है और फिर उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि को तैयार करने के उपायों का वर्णन किया है । कामनाओं पर नियंत्रण, मन तथा बुद्धि की पवित्रता और कार्य-कुशलता को प्राप्त कर जीवात्मा कर्म करे ।

सप्तम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

हे अर्जुन ! मुझ(परमात्मा) में लीन मन वाला पुरुष और मेरे (परमात्मा के) आश्रय रहता हुआ, योग में लगा हुआ, मेरे (परमात्मा के) समग्र रूप को कैसे जानेगा, यह सुन।[1]

१. इस अध्याय में विषय को किंचित् बदल दिया गया है। छठे अध्याय के अन्त तक शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि को सजग, निर्मल एवं तीक्षण करने के उपाय बताये गये थे। इस निर्मल मन से क्या ग्रहण किया जाये, उसका वर्णन इस अध्याय में आरम्भ हो गया है।

मन को निर्मल करना (काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार से रहित करना) पर्याप्त नहीं है। इस कामनारहित तथा निर्मल मन में क्या भरा जाये, यह जानना भी आवश्यक है।

बुद्धि मन में संचित ज्ञान का विश्लेषण करती है। परन्तु यदि मन में कुछ हो ही नहीं, तो किसका विश्लेषण करेगी ?

इस कारण गीता का प्रवक्ता अब यह बताना चाहता है कि निर्मल मन में क्या ग्रहण करने योग्य है। इस अध्याय का नाम ज्ञान और विज्ञान है।

ज्ञान एक व्यापक शब्द है, परन्तु पारिभाषिक अर्थ में ज्ञान का अर्थ अध्यात्म ज्ञान है। वह ज्ञान जो इस संसार को क्रियाशील करने वाले तत्त्व का है, वह अध्यात्म कहाता है।

अध्यात्म का अभिप्राय है आत्मा सम्बन्धी। आत्मा के विषय में आगे चल कर बताया जायेगा कि आत्म तत्त्व दो हैं।

और आत्म तत्त्व के अतिरिक्त विश्व में कुछ और अन्य भी हैं, वह अध्यात्म नहीं। उसकी जानकारी विज्ञान है।

इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि परमात्मा में लीन व्यक्ति को चाहिये कि भली प्रकार परमात्मा को जानने के लिये ज्ञान और विज्ञान दोनों का समग्र ज्ञान प्राप्त करे। सहस्रों में से कुछ ही इस ज्ञान-विज्ञान के रहस्य को जान सकते हैं और उनमें भी कोई-कोई ही परमात्मा को जान सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

तेरे लिये यह ज्ञान-विज्ञान सम्पूर्णता से वर्णन करूँगा। उसको जानने के उपरान्त संसार में और कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जायेगा।

सहस्रों में कोई ही मनुष्य (इस ज्ञान की) सिद्धि के लिये यत्न करता है। उन ज्ञान को प्राप्त करने वालों में कोई ही परमात्मा को तत्त्व से जानता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (पंच महाभूत) मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की भिन्न-भिन्न सृष्टि है।

यह (आठ प्रकार की प्रकृति) तो अपरा (समीप अर्थात् प्रत्यक्ष) है। दूसरी जीव भूतों (प्राणियों) की भी है जो पराम् (दूर अर्थात् अप्रत्यक्ष) है। ये दोनों प्रकार की सृष्टि से सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है।

इन दोनों (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष) प्रकार की सृष्टि को समझ कि मैं (परमात्मा) ही इनको उत्पन्न तथा विनष्ट करता हूँ।[2]

२. ब्रह्मसूत्रों में कहा है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥ ब्र० सू० १-२-१

अर्थात्—जो सब स्थान पर प्रसिद्ध है उसके उपदेश से (प्रसिद्ध है यह जगत्)। जगत् दो प्रकार का है—परा और अपरा।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥ तथा
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥ ब्र० सू० १-२-२, ३

अर्थात्—इस (जगत्) के गुणों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि—शरीरधारी और अशरीरधारी हैं (इसमें)।

यही बात गीता का प्रवक्ता कह रहा है। इस जगत् में आठ प्रकार की

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।।

हे अर्जुन ! मुझसे परतरं (दूर—स्पर्श से परे) कुछ भी नहीं है। यह सब (जगत्) माला में मणियों की भाँति सूत्र में पिरोया हुआ है ।[1]

सृष्टि है। उस आठ प्रकार की सृष्टि से पृथक् है जीवधारियों की।

दोनों प्रकार की सृष्टियों को परमात्मा ही उत्पन्न करता है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जो आठ प्रकार की सृष्टि का वर्णन किया है, उनमें परमाणुओं का नाम नहीं लिया। परमाणु के विषय में सांख्य दर्शन कहता है—

'सत्त्व रजस् तमस् साम्यावस्था प्रकृतिः'। इसको परमाणु रूप प्रकृति कहा है।

गीता ने प्रकृति की इस साम्यावस्था में परमाणु का नाम नहीं लिया। यह इस कारण कि यहाँ आठ प्रकार की सृष्टि तथा जीव सृष्टि परमात्मा से उत्पन्न की गयी कही है, परन्तु परमाणु रूप प्रकृति परमात्मा से उत्पन्न नहीं की जाती। प्रकृति के शाब्दिक अर्थ हैं प्र+कृति—भली-भाँति बनाई हुई।

इसी अध्याय में आगे चलकर बताया है कि प्रकृति (परमाणु रूप)अनादि है। अर्थात् उस अनादि परमाणु रूपी प्रकृति से परमात्मा दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करता है—जड़ और चेतन।

३. माला में मणियों की भाँति डोरे में पिरोया हुआ है।

यहाँ सांख्य दर्शन में वर्णित एक रहस्य का उल्लेख है। जब सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था भंग होती है तो गुण बहिर्मुख हो आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित करते हैं। इससे परमाणु समूह बन जाते हैं। ये अपः कहाते हैं। ये परमाणु-समूह तीन प्रकार के होते हैं। एक जो सत्त्व गुण प्रधान होते हैं, उन्हें वैकारिक अहंकार कहते हैं; दूसरे जो तैजस् गुण प्रधान होते हैं, उन्हें तैजस् अहंकार कहते हैं और तीसरे जिनमें तमस् गुण प्रधान होता है। इन्हें भूतादि अहंकार कहते हैं। इन अपाः (अहंकारों) में जो प्रधान गुण है, वह इन अहंकारों का रस कहाता है।

गीता में इन गुणों को ही अपाः का रस कहा है।

परमाणुओं के गुण जो पहले अन्तर्मुखी और परस्पर विलीन हो रहे होते हैं, बहिर्मुख होने से सक्रिय हो जाते हैं। ये बहिर्मुख परमात्मा के प्रयत्न से होते हैं। अभिप्राय यह है कि अपाः में जो गुण बहिर्मुख दिखाई देते हैं, वे परमात्मा के ही तेज से प्रकट होते हैं, इस कारण उनको परमात्मा का ही प्रभाव माना है। इसी कारण कहा है कि अपाः में रस परमात्मा है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।८।।

अपः में मैं (परमात्मा) ही रस हूँ। चन्द्र और सूर्य में प्रकाश हूँ। सब वेदमंत्रों में ओंकार मैं हूँ तथा आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।९।।

पृथिवी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज मैं हूँ और सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन मैं हूँ। (अभिप्राय यह है कि प्रकाशमान् पदार्थों में प्रकाश परमात्मा का ही है) सब प्राणियों में जीवन मैं हूँ और सब तपस्वियों का तप मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।१०।।

हे अर्जुन ! सब प्राणियों का सनातन बीज मुझे (परमात्मा को)ही जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूं।[4]

ऋग्वेद (१-१६३-१, २) में भी कहा है कि परमाणुओं (त्रितों) पर परमात्मा का तेज अधिष्ठित हो, उन पर लगाम लगाता है, और उनको बहिर्मुख कर तीन अति ओजमय अपाः की सृष्टि करता है। तब इनसे ही सब सृष्टि के पदार्थ बनते हैं।

पदार्थ बनते हैं अहंकारों के प्रधान गुणों के कारण। इन्हें ही पदार्थों में सूत्र कहा है।

शतपथ ब्राह्मण (६-१-१-१, २) में परमाणुओं के भीतर की इस शक्ति को इन्द्र कहा है। इन्द्र जब बहिर्मुख हो जाता है, तो सात भागों में बँट जाता है। फिर (शतपथ ब्राह्मण ६-१-१-६, ७, ८ में) कहा है कि ये सात भाग इन्द्र के साथ प्राण कहाते हैं। जब एकत्रित हो जाते हैं तो पुरुष (प्रजापति) कहाता है। यही अभिप्राय है गीता का जब उसका प्रवक्ता कहता है कि पुरुष में पुरुषत्व मैं (परमात्मा) हूँ।

४. यहाँ समझने की बात यह है कि जगत् के सब पदार्थों की माला के सूत्र की बात कही जा रही है।

पृथिवी आदि पंच महाभूतों का रूप-रंग इत्यादि गुण परमात्मा के कारण है अर्थात् उस सूत्र का अंश मात्र है। इसी प्रकार प्रकाशमान् वस्तुओं का प्रकाश भी उसी सूत्र का अंश है। प्राणियों का सनातन बीज से अभिप्राय है जीवन (life) को आरम्भ करने वाला कारण। आरम्भ में जीवन का कारण परमाणु

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे अर्जुन ! मैं बलवानों का बल (सामर्थ्य) हूँ, परन्तु इनकी कामनाओं और उनकी विषयों की आसक्ति से मेरा सम्बन्ध नहीं है । और सब प्राणियों में धर्म के अनुकूल कार्य करने की सामर्थ्य मैं हूँ ।(अभिप्राय यह है कि धर्मविरुद्ध कार्य करने को मैं नहीं कहता ।)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

और ये जो सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से होने वाले व्यवहार हैं, वे सब मेरी (दिये हुए) सामर्थ्य से ही होते हैं। इस पर भी उनमें मैं नहीं हूँ । न वे मुझ में हैं ।[५]

में छुपी त्रिगुणात्मक शक्ति ही है, जिसे शतपथ ब्राह्मण ने इन्द्र और प्राण कहा है । वही जीवन का स्रोत है और वही उत्तरोत्तर प्राणियों में जीवन के रूप में चला आता है ।

यहाँ जीवन शक्ति और जीवात्मा (soul) में भेद समझ लेना चाहिये ।

त्रिगुणात्मक शक्ति प्रकृति में है । गीता में इसका ही उल्लेख किया जा रहा है । परन्तु प्राणी में इस शक्ति का प्रयोग करने वाला एक चेतन तत्त्व शक्ति से पृथक् है । शक्ति स्वयं जीवन-रहित होने से अपने कार्य का स्थान, इसकी दिशा तथा इसका समय निश्चित नहीं कर सकती । इसको निश्चय करने वाला कोई चेतन तत्त्व होना चाहिये । वह शक्ति से पृथक् है ।

शक्तिमान् शक्ति से पृथक् है । प्राण तो प्राकृतिक शक्ति है जो परमात्मा की करनी से प्रकट होती है, परन्तु उस शक्ति को दिशा देने वाला, उसके कर्म की दिशा, स्थान और समय निश्चित करने वाला चेतन तत्त्व जीवात्मा है ।

५. इस (सप्तम्) अध्याय से ज्ञान-विज्ञान का विषय आरम्भ किया गया है। गीता का प्रवक्ता कह रहा है कि सृष्टि दो प्रकार की है । एक जड़ और दूसरी चेतन । जड़ जगत् का मूल उसने बताया है पंच महाभूत, मन और बुद्धि (गीता ७-८) । चेतन में उसने बताया है प्राणी मात्र । इन दोनों प्रकार की रचनाओं को सम्पूर्ण करने वाला परमात्मा ही है । (गीता ७-५,६)

परमात्मा प्राण शक्ति के रूप में सब चेतन पदार्थों में कार्य कर रहा है ।

बलवानों का बल तो परमात्मा ही है, परन्तु उस बल से जो कामनाएँ पूर्ण की जाती हैं, उनसे परमात्मा का सम्बन्ध नहीं है । उसे करने वाला शरीर में एक दूसरा चेतन तत्त्व (जीवात्मा) है ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

(सत्त्व, रजस् और तमस्) गुणों के कारण ये तीनों प्रकार के व्यवहार पूर्ण संसार को मोहित किये हुए हैं। इन (गुणों) से परे मेरे अविनाशी भाव को लोग नहीं जानते ।[६]

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

यह अद्वितीय शक्ति (त्रिगुणमयी माया) परमात्मा से ही (प्रकट हुई) है । इसके बल से बचना दुस्तर है । वे लोग जो परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, वे इस माया (शक्ति के जाल) से पार हो जाते हैं ।[७]

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

आसुरी स्वभाव वाले लोगों का ज्ञान, माया द्वारा (परमात्मा की इस शक्ति द्वारा) नष्ट हो जाता है। ऐसे नीच दूषित कर्म करने वाले मूर्ख परमात्मा को नहीं भजते (उसके विषय में चिन्तन नहीं करते) ।

---

६. त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुण प्राणियों में भी आ जाते हैं और प्राणी उन गुणों से प्रेरित हो कार्य करते हैं। उन गुणों को प्रकृति से युक्त करने वाला परमात्मा है । इससे जितने भी त्रिगुणात्मक कार्य होते हैं, वे परमात्मा की शक्ति से ही होते हैं; परन्तु गीता का प्रवक्ता कह रहा है कि उनसे जो सात्त्विक्, राजसी तथा तामसी कार्य होते हैं, वे परमात्मा के करने से नहीं होते। परमात्मा इनके उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं है । परमात्मा द्वारा विमुक्त हुई शक्ति का प्रयोग करने वाला कोई अन्य है । वह है जीवात्मा ।

७. वह त्रिगुणात्मक शक्ति, जो परमाणुओं में से परमात्मा के प्रयत्न से विमुक्त होती है, दिव्य गुण वाली है । दिव्य का अर्थ है चमत्कारी । यह अपरा शक्ति है और ऊपर के श्लोकों में कहा है कि यह शक्ति सब पदार्थों में है ।

जो मनुष्य इस शक्ति के प्रलोभनों में फंस जाते हैं वे इससे पार नहीं हो सकते । इसे पार करना अति दुस्तर है। इसे पार करने के लिये परमात्मा का चिन्तन ही सहायक है ।

परमात्मा का स्मरण करने को भजन करना कहते हैं । इसका अर्थ है परमात्मा के गुणों और कार्य का चिन्तन । इस चिन्तन से मनुष्य जान जाता है कि त्रिगुणात्मक शक्ति क्या है और इसका परमात्मा से क्या सम्बन्ध है । इससे वह माया (त्रिगुणात्मक शक्ति) के जाल से बच सकता है ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन! मेरा (परमात्मा का) चिन्तन करने वाले चार प्रकार के लोग हैं—दुःखी, जिज्ञासु, विषयों के भोग के इच्छुक तथा ज्ञानी।[८]

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

इन (चारों) में वे ज्ञानी जो सदा परमात्मा से युक्त रहते (परमात्मा को स्मरण रखते) हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसे ज्ञानी को परमात्मा अति प्रिय होता है और परमात्मा को भी वह अतिप्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

(ये चारों प्रकार से भजन करने वाले) सब श्रेष्ठ हैं, परन्तु ज्ञानी परमात्मा का स्वरूप है। ऐसा मेरा (गीता के प्रवक्ता का) मत है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के प्रयत्न से ज्ञानवान् हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव (सर्वव्यापक परमात्मा) का इस प्रकार जो भजन करता है, दुर्लभ है (ऐसे बहुत कम लोग हैं)।

---

८. परमात्मा का चिन्तन करने वालों की चार श्रेणियाँ बतायी हैं—

(क) आर्त अर्थात् दुःखियारे; अभिप्राय है दुःख में परमात्मा को स्मरण करने वाले;

(ख) जिज्ञासु—वे लोग जो कुछ श्रेष्ठ एवं सुखकारक वस्तु अथवा स्थिति को पाने की अभिलाषा रखते हैं;

(ग) इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति के लिये परमात्मा का स्मरण करने वाले।

(घ) ज्ञानी—अभिप्राय है वे लोग जो परमात्मा और उसके कर्मों का स्मरण इस कारण करते हैं जिससे वे संसार का ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस श्लोक से भजन करने के विस्तृत अर्थों का ज्ञान होता है। केवल मात्र नाम का जाप करने वालों से लेकर परमात्मा की प्रवृत्ति का रहस्य जानने वाले अन्वेषक सब इसके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अपने स्वभाव से प्रेरित भोगों की कामना करते हुए हीन ज्ञान वाले मनुष्य (परमात्मा के) अतिरिक्त देवताओं को भजते हैं।[९]

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो पुजारी जिस-जिस देवता के शरीर की श्रद्धा से पूजा करना चाहता है, परमात्मा उस-उस की, उसी देवता के प्रति श्रद्धा स्थिर कर देता है।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता के पूजन का यत्न करता है और परमात्मा की कृपा से उस देवता से निहित भोगों को प्राप्त करता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

उन देवताओं के पूजने का फल अस्थाई होता है। अतः उन देवताओं का भजन करने वाले अल्प बुद्धि, देवताओं को प्राप्त होते हैं और परमात्मा का पूजन करने वाले परमात्मा को प्राप्त होते हैं।[१०]

---

९. ऊपर (गीता ७-१६ तथा १७ में) परमात्मा का भजन करने वाले चार प्रकार के लोगों में ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ बताया है। इस श्लोक (७-२०) में यह बताया है कि बहुत से परमात्मा को छोड़ अन्य देवताओं का भजन करने लगते हैं। वे ऐसा अपने स्वभाव से करते हैं।

आजकल के वैज्ञानिक इसी श्रेणी के भक्त हैं। वे परमात्मा को छोड़ विद्युत, अग्नि, सूर्य, तारागण इत्यादि देवताओं (प्राकृतिक शक्तियों) का ज्ञान प्राप्त करने में लगे हुए हैं।

गीता का प्रवक्ता इनको हीन कहता है। वह अपने इस कथन की व्याख्या भी करता है।

१०. इन सूर्य इत्यादि देवताओं की स्तुति करने वालों की श्रद्धा परमात्मा इनमें स्थिर कर देता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जो भक्त किसी देवता की स्तुति करते हैं अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त कर उसका फल प्राप्त करना चाहते हैं, परमात्मा उस उपासक की निष्ठा उस देवता में स्थिर कर देता है अर्थात् उस देवता का ज्ञान उस भक्त

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

बुद्धिहीन लोग परमात्मा को, जिससे उत्तम और कुछ नहीं, जो अविनाशी है, जो सर्वश्रेष्ठ अस्तित्व रखता है, और जो अव्यक्त (अतीन्द्रिय) है, को दिखाई देने वाला मानते हैं, क्योंकि वे तत्त्व को नहीं जानते।[11]

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।

मैं (परमात्मा) सबको प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि मैं अपनी (योगमाया) कर्तृत्व शक्ति से ढपा हुआ हूँ। मूढ़ (मूर्ख) लोग मुझे, जो अविनाशी और जन्म-रहित है, को नहीं जानते।

को प्राप्त होता है।

परन्तु यह ज्ञान चिरस्थाई नहीं होता। वह अधिक से अधिक भक्त के जीवन-काल तक ही उसके पास रहता है।

जैसे कोई इन्द्र (विद्युत) की उत्पत्ति और प्रयोग के विषय में जानने का यत्न करता है। वह विद्युत के गूढ़तम रहस्य को भी प्रयत्न से प्राप्त कर लेता है। यह प्राप्ति भी परमात्मा की कृपा से ही होती है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह ज्ञान उसके पास कुछ काल के लिये रहता है। कारण यह कि इस ज्ञान को प्राप्त करते समय उसने उन देवताओं के स्रोत परमात्मा को जानने का यत्न नहीं किया।

ऊपर इसी अध्याय में कहा जा चुका है कि सब पदार्थों में कार्य करने वाली शक्ति परमात्मा है। सूर्य, अग्नि, विद्युतादि देवताओं में सामर्थ्य परमात्मा की ही है। इस कारण जो देवताओं के बाहरी स्वरूप (तन) की स्तुति करते हैं, वे देवताओं को तो प्राप्त करते हैं, परन्तु उनमें कार्य करने वाले परमात्मा का ज्ञान उनको नहीं होता। देवताओं के स्वरूप का ज्ञान मनुष्य के मरने पर समाप्त हो जाता है, परन्तु परमात्मा का ज्ञान जिसे प्राप्त होता है, उसका फल स्थायी है।

११. अव्यक्त उसे कहते हैं जो इन्द्रियों से अनुभव न हो। सब व्यक्त पदार्थ कई-कई परमाणुओं के संयोग से बनते हैं, जब उस प्रकार बने अणु गतिशील होते हैं। इस कारण व्यक्त पदार्थ निर्मित भी कहे जाते हैं। निर्मित पदार्थ नाशवान् होते हैं।

इसी कारण श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा को जो इन्द्रियों से अनुभव किया जा रहा मानते हैं, वे बुद्धिविहीन हैं। परमात्मा एक विभु (सर्वव्यापक) होने से निर्मित पदार्थ नहीं। जो उसको इन्द्रियों का विषय मानते हैं, वे बुद्धिविहीन हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।

व्यतीत हुए काल के, वर्तमान काल के और भविष्य में होने वाले सब प्राणियों और पदार्थों को मैं जानता हूँ। परन्तु मुझे कोई दूसरा नहीं जानता।[12]

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ।।२७।।

इच्छा (कामनाओं), द्वेष (वैर भाव) से उत्पन्न हर्ष शोकादि द्वन्द्वों के मोह से सब प्राणी, हे अर्जुन! अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

परन्तु जिन मनुष्यों के पाप का अन्त (नाश) हो चुका है, वे राग द्वेष के द्वन्द्वों के मोह से छूटकर दृढ़व्रती मुझको भजते हैं।[13]

---

१२. ऊपर के श्लोक (७-२४, २५) में कही बात को ही यहाँ दूसरे शब्दों में कहा है। श्लोक ७-२५ में कहा था कि मैं किसी को दिखाई नहीं देता। कारण यह कि मैं अपनी योगमाया (वह शक्ति जिससे संसार युक्त हुआ है) से ढपा हुआ हूँ।

ऐसा वेद में भी कहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।। यजुः (४०-१७)

अर्थात्—सुन्दर, चमकदार पात्र का मुख बंद है जिसमें अविनाशी तत्त्व छिपा हुआ है।

गीता का प्रवक्ता कहता है कि यह प्राणियों में कामना और वैर भाव है जिसके कारण वे हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से मोहित (फंसे) हुए मूर्ख बन रहे हैं।

इस पूर्ण वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि परमात्मा अनन्त तत्त्व है। उसका दिखाई देने वाला अथवा इन्द्रियों से अनुभव होने वाला कोई रूप नहीं है। जो ऐसा देखते हैं, वे संसार में उसको नहीं जानते।

१३. इस श्लोक में भजन का अभिप्राय बताया है। जो परमात्मा का भजन करता है, वह दृढ़व्रती कहा जाता है। वह पाप रहित हो कामना और द्वेष से मुक्त हो जाता है।

भजन करना राम-राम अथवा किसी मंत्र शब्द का बार-बार दुहराना नहीं वरन् पापों से रहित हो काम, मोह इत्यादि दोषों से मुक्त होना है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो लोग मेरे आश्रय होकर बुढ़ापे तथा मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ब्रह्म (वेद) को और सम्पूर्ण अध्यात्म (आत्मतत्त्व के रहस्य) और उस तक पहुँचने के लिए करणीय कर्म को जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदेव के सहित और अधियज्ञ के साथ मुझको जानते हैं, वे युक्त चित्त वाले पुरुष मृत्यु के समय भी मुझको जानते हैं, ऐसा समझो।[१४]

---

१४. जो व्यक्ति वेद में कहे अधिभूत और अधिदेव को जानता है और इनके साथ अधियज्ञ को जानता है, ऐसा व्यक्ति मृत्यु से निर्भय होकर, परमात्मा में चित्त लगाकर, उसका स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है।

इस अध्याय में परमात्मा और प्राकृत जगत् का सम्बन्ध बताया है। प्रकृति के निर्मित रूप का उल्लेख कर उसके निर्माण में कारण परमात्मा की शक्ति (प्राण) का वर्णन किया है। परमात्मा के तेज से ये प्राण बहिर्मुख हो जाते हैं। तब परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण होने लगता है और संसार के अनेकानेक पदार्थ बनने लगते हैं।

इस प्रक्रिया का आरम्भ परमात्मा के तेज से ही आरम्भ होता है। वेद में इसका वर्णन इस प्रकार है—

यदासोत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥

(ऋ० १०-१२९-३)

अर्थात्—(और सब तम से आवृत्त था) जो यह तपस् के महान् सामर्थ्य वाला एक प्रकट हुआ।

यह तेज त्रिगुणात्मक परमाणुओं की साम्यावस्था भंग करने वाला हुआ।

इस तेज से ही सब पदार्थ बने हैं। परमात्मा तो अदृश्य है, परन्तु उसके तेज से विनिर्मुक्त शक्ति (माया) से जगत् के सब पदार्थ बने हैं।

उन बने पदार्थों को देख जो मनुष्य उनको ही परमात्मा मानने लगते हैं, वे बुद्धिरहित तथा मूढ़ हैं।

अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे पुरुषोत्तम! वह (जिसका आपने वर्णन किया है) ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है, अधिभूत क्या कहा गया है और अधिदेव क्या कहा जाता है?

हे मधुसूदन! यहाँ इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीर में किस प्रकार है? अन्तकाल में स्थिर आत्मा वालों से वह (परमात्मा) कैसे जाना जाता है?[१]

श्रीकृष्ण उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वाभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

जो अक्षर है, वह ब्रह्म है। उस श्रेष्ठ परमम् (जिसका नाश न हो) के स्वभाव

---

१. सप्तम् अध्याय (७-२८) में कहा है कि जो परमात्मा की शरण में आकर वृद्धावस्था तथा मरण से छूटने का यत्न करते हैं, वे ब्रह्म को तथा सम्पूर्ण अध्यात्म कर्म को जानते हैं।

फिर श्लोक ७-३० में कहा है कि जो सबके देव परमात्मा को, उसके अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ सहित जानते हैं, वे युक्त चित्त वाले पुरुष मृत्यु के समय परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं।

ये दोनों पूर्व अध्याय के अन्तिम श्लोक हैं।

अर्जुन इन शब्दों की व्याख्या ही पूछ रहा है। उसका प्रश्न है कि ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव किसे कहते हैं? इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और वह कैसा है? इनका ज्ञान रखने वाला किस प्रकार अन्तकाल में परमात्मा को पा लेता है?

वास्तव में इस संसार को और इसमें मनुष्य के पूर्ण क्रिया-कलाप को समझाने के लिए ही ये प्रश्न उपस्थित किये गये हैं।

(व्यवहार) को अध्यात्म कहा जाता है। भूतों के भाव को (उत्पन्न करना अथवा उनको पृथक्-पृथक् करना) कर्म है।[2]

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

उत्पत्ति अथवा विनाश धर्म वाले पदार्थों को अधिभूत कहते हैं और उसमें पुरुष (प्राण शक्ति) अधिदेव है। देहधारियों में श्रेष्ठ हे अर्जुन ! इस शरीर में परमात्मा ही अधियज्ञ (यज्ञ करने वाला) है।[3]

---

२. अक्षर का अर्थ है जो नाश नहीं होता। इसे नित्य भी कहा जाता है। अक्षर पदार्थ तीन हैं। (गीता १३-१६, २०, २१, २२)। इनके उत्कृष्ट स्वभाव (व्यवहार) को अध्यात्म कहा जाता है। अर्थात् इन तीनों अनादि पदार्थों (परमात्मा, जीवात्मा-समूह और प्रकृति के परमाणुओं) के व्यवहार का ज्ञान अधिभूत कहाता है।

यहाँ दो बातें समझने की हैं। प्रकृति के स्वभाव के ज्ञान को भी अध्यात्म मानें अथवा न ? जो नहीं मानते, वे इस श्लोक में 'परम' का अर्थ करते हैं सर्वश्रेष्ठ अक्षर।

हम समझते हैं कि परम ब्रह्म का अभिप्राय है ब्रह्माण्ड (श्वे० उप० १-६,७)। इसमें तीनों अक्षर (मुक्तजीव सहित) आ जाते हैं।

प्रकृति का उत्कृष्ट स्वभाव वह है जब वह मूल रूप में ही होती है। सांख्य दर्शन में कहा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः — सां० द० १-६१ ॥

सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। अतएव हमारा यह मत है कि प्रकृति की इस अवस्था के स्वभाव का ज्ञान भी अध्यात्म है।

एक अन्य शब्द इसी श्लोक में है— 'भूतभावोद्भवकरो'। इसका अभिप्राय है—भूत (पंच महाभूत) स्वरूप का निर्माण करना और (विसर्गः) निर्माण से विघटन करना कर्म है।

दूसरे शब्दों में पंचभौतिक सृष्टि का निर्माण और उसका प्रलय कर्म है।

अतएव अक्षर तीन हैं। यही वैदिक मत है। इनके सर्वोच्च स्वभाव का ज्ञान अध्यात्म है।

३. जगत् में दो प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं। चेतन और अचेतन। दोनों क्षरित होने (बनने तथा टूटने) वाले पदार्थों में प्राण (गति उत्पन्न करने वाली शक्ति) (पुरुष) परमात्मा है। यह कहा है कि जो चेतन पदार्थ हैं, उनमें अधियज्ञ—यज्ञ करने वाला—परमात्मा है और उनमें कार्य करने की सामर्थ्य (शक्ति) परमात्मा की है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

और जो पुरुष अन्तकाल (मृत्यु के समय) में मुझको (परमात्मा को) ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह मेरे (परमात्मा के) ही स्वरूप को प्राप्त होता है; इसमें संशय नहीं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे अर्जुन ! शरीर छोड़ने के समय जीवात्मा जिस-जिस भाव (विचार) को स्मरण करता हुआ जाता है, उस-उस भाव को ही प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिये हे अर्जुन ! युद्ध करते समय सदा मेरा (परमात्मा का) स्मरण करता रह। जब तू अपना मन और बुद्धि मुझ (परमात्मा) में अर्पण कर देगा तो मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होवेगा, इसमें संशय नहीं।[4]

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीवात्मा क्या है ? उसका क्या अर्थ है, जीवधारी शरीर में। यहाँ तो इतना ही कहा है, शरीरधारियों में कर्म करने वाला परमात्मा है।

वैसे ब्रह्मसूत्रों में इसको भलीभाँति समझाया गया है। वहाँ कहा है कि जीवधारियों में प्राण परमात्मा ने दिये हैं और उन प्राणों में छः प्राण जीवात्मा के अधीन कर रखे हैं। (ब्र० सू० १-३-१८)

जीवात्मा उन प्राणों को अपनी इच्छानुसार व्यवहार में लाता है और फिर अपने व्यवहार से अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगता है।

भगवद्गीता में भी (२-४७ में) कहा है कि कर्म करने का अधिकार जीवात्मा का है, फल उसके अधिकार में नहीं है।

यह कर्म करता है ईश्वर प्रदत्त शक्ति (प्राण) से। इसी कारण इस श्लोक में कहा है कर्म करने की सामर्थ्य का देने वाला (अधियज्ञ) परमात्मा है।

परमात्मा देहधारियों (प्राणियों) में कैसे कार्य करता है ? इस विषय में ब्रह्मसूत्र (१-३-१६) में कहा है कि परमात्मा की इस शरीर को धारण करने की शक्ति बहुत महिमा युक्त है। महिमा युक्त का अभिप्राय है अति शुभ गुण युक्त।

इस कारण परमात्मा प्राणियों की देह में अधियज्ञ कहाता है।

४. इस सातवें श्लोक में कहा है कि परमात्मा के स्वरूप को ही प्राप्त हो जाओगे। इसका अर्थ कुछ भाष्यकार यह करते हैं कि जीवात्मा परमात्मा ही हो

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

हे अर्जुन ! योगाभ्यास से युक्त हो अन्य किसी मार्ग पर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ परम दिव्य पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त होता है ।

जाता है परन्तु 'एष्यसि' का अर्थ है परमात्मा जैसा लगने लगेगा । यही अर्थ ठीक भी प्रतीत होता है ।

जीवात्मा परमात्मा नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो यह भी मानना पड़ेगा कि जीवात्मा बनने से पहले वह परमात्मा ही था। तब यह भी बताना पड़ेगा कि परमात्मा का वह अंश जो जीवात्मा हो गया और अज्ञानी बन गया, वह ऐसा क्यों हो गया ? क्यों परमात्मा का एक अंश सुख-दुःख भोगता है और क्यों दूसरा सुख-दुःख नहीं भोगता ?

इस प्रकार यह कहा जाता है कि सुख-दुःख तो चित्त, बुद्धि और मन को होता है। जीवात्मा निर्मल बीच में बैठा रहता है। अर्थात् उसे सुख-दुःख नहीं होता। तो फिर वह जीवात्मा क्यों मन तथा बुद्धि को परमात्मा के अर्पण करे ? वह तो निर्मल सुख-दुःख से परे ही है ?

वे सब लोग जो 'जीवात्मा परमात्मा ही हो जाता है', ऐसा मानते हैं, इस प्रकार एक बंद गली में पहुँच जाते हैं। तब वे कह देते हैं कि यह सब परमात्मा की माया है ।

अतः, हमारा मत है कि जीवात्मा ऊपर कही अवस्था में परमात्मा जैसा (परमात्मा नहीं) हो जाता है ।

५. 'योग युक्तेन' का अभिप्राय है, वे लोग जो योगाभ्यास करने वाले हैं । यह माना जाता है कि योगाभ्यास करने से और जो इस मार्ग को छोड़ कर किसी दूसरे मार्ग पर नहीं जाते, वे परमात्मा को पा जाते हैं । परमात्मा को पा जाने का अर्थ है उसके स्वरूप को पा जाना ।

उसका स्वरूप कैसा है, इसका वर्णन अगले श्लोकों में है ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उस पूर्ण स्वरूप को जीवात्मा प्राप्त कर लेता है ? नहीं । ब्रह्मसूत्रों में कहा है—

'और विशेष गुणों से युक्त हो जाता है (परमात्मा) के समीप होने से ।'

(ब्र० सू० ४-३-८,९)

यह भी कहा है—

जगत् रचना और प्रलय कर सकने के अतिरिक्त परमात्मा के अन्य गुण उसमें आ जाते हैं ।

(ब्र० सू० ४-४-१७)

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।

जो मनुष्य, सर्वज्ञ, अनादि, सबको नियंत्रण में रखने वाले, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबको धारण करने वाले तथा पोषण करने वाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्य की भाँति सब ओर ज्ञान का प्रकाश करने वाले, अविद्या से परे, ऐसे पुरुष को स्मरण करता है;

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।१०।।

और देह छोड़ने के समय, स्थिर मन से तथा भ्रुवों के मध्य में योग के बल से ध्यान लगा कर, वहाँ पूर्ण प्राण शक्ति को केन्द्रित करके, परमात्मा को स्मरण करता है, वह उस परम पुरुष (परमात्मा) को ही प्राप्त होता है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११।।

वेद के विद्वान् जिस अक्षर को कहते हैं और जिसमें यत्न से आसक्तिरहित जन प्रवेश करते हैं एवं जिसकी (प्राप्ति की) इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद के विषय में मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।१२।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।१३।।

(इन्द्रियों के) सब द्वारों पर नियंत्रण कर, मन को हृदय देश में स्थिर कर और अपने प्राण को मस्तिष्क में स्थापित कर, योग में स्थित हुआ व्यक्ति—

'ओं' इस अक्षर रूप ब्रह्म को स्मरण करता हुआ, परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो देह का त्याग करता है, वह परम गति (मुक्तावस्था) को प्राप्त होता है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।१४।।

हे अर्जुन ! जो मनुष्य एकाग्र चित्त से सदा निरन्तर परमात्मा को स्मरण करता है, उस सदा परमात्मा से युक्त योगी को मैं (परमात्मा) सुगमता से प्राप्त हो जाता हूँ ।

'प्रत्यक्ष देखने से यह (सीमा) है । यदि कहो नहीं तो अधिकार वाले मण्डल में रहने के कारण ।'

छन्दोग्य उपनिष्द् (७-२५-३) में मुक्त आत्मा के अधिकार की सीमा वर्णित है ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

सिद्धि से युक्त परम गति को प्राप्त महात्मा मुझ (परमात्मा) को प्राप्त होकर इस अनित्य दुःख रूप जन्म को पुनः (शीघ्र) प्राप्त नहीं होता।[6]

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन! ब्रह्म लोक से लेकर निम्न से निम्न लोक तक सब पुनरावर्ती (शीघ्र) लौटने वाले हैं, परन्तु मुझ (परमात्मा) को प्राप्त होने वाले का, पुनः (इस भू-लोक पर) जन्म नहीं होता।[7]

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्म दिन जो है वह एक सहस्र चतुर्युगियों तक होता है। ब्रह्म रात्रि को भी एक सहस्र चतुर्युगी अवधि वाला जो जानते हैं वे काल के तत्त्व को जानने वाले हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

सब दृश्यमान् जगत् ब्रह्म दिन के समय में अदृश्यमान् से उत्पन्न हो जाता है। रात्रि के आ जाने पर उस अदृश्यमान् में ही लुप्त हो जाता है।

---

६. दुःख रूपी इस भू-लोक पर जन्म न होने का अभिप्राय है कि इस पृथिवी पर पुनः जन्म नहीं होता। इससे विदित होता है कि इस पृथिवी पर जन्म निःसन्देह अन्य कई जन्मों से घटिया है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह जीवात्मा पुनः देह को प्राप्त नहीं होता। अन्य नक्षत्र पर जन्म हो सकता है। यह तो देखा जा चुका है कि अन्य नक्षत्रों में से किसी भी ज्ञात नक्षत्र पर जलवायु की स्थिति वैसी नहीं जैसी पृथिवी पर है। इस कारण यदि जीवात्मा वहाँ जाता है तो उसे वहाँ शरीर किसी अन्य प्रकार का मिलता होगा।

७. पुनः जन्म नहीं होता, का अभिप्राय है कि इस भू-लोक में जन्म नहीं होता। अन्य नक्षत्रों में प्राणी का जन्म किस प्रकार होता है और वहाँ दुःखमय है अथवा सुखमय, हम नहीं जानते। इस कारण इस विषय में हमारा मत है कि भगवद्गीता का प्रवक्ता जहाँ-जहाँ पुनर्जन्म की बात कहता है, वह इस भू-लोक पर ही जन्म की बात कहता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

सब आधिभौतिक जगत् उत्पन्न हो-होकर वश में हुआ, रात्रि के आने पर लय को प्राप्त होता है। पुनः ब्रह्म दिन के आने पर उत्पन्न होता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परन्तु उस अव्यक्त (मूल प्रकृति) से भी अति परे एक सनातन अव्यक्त का अस्तित्व है, जो सब पंचभौतिक पदार्थों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।[8]

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

यह (ऊपर के श्लोक में जिसे अति सूक्ष्म कहा है) अदृश्यमान् अक्षर ऐसे है कि उसे परम गति (स्थिति) कहा जाता है। उसे प्राप्त कर उस परमधाम से न निवर्तन्ते अर्थात् उस परम धाम से कहीं जाने में बाधा नहीं होती।[9]

---

८. व्यक्त का अर्थ है जो दिखाई देता है, परन्तु दिखाई वे पदार्थ देते हैं जो परमाणुओं के संयोग से बने होते हैं और जो गतिशील होते हैं। वास्तव में परमाणुओं की गति ही दृश्यमान् होती है। इस कारण व्यवत का अर्थ दृश्यमान् के साथ ही गतिशील भी समझना चाहिये।

प्रकृति के परमाणु भी अव्यक्त हैं। साम्यावस्था में न केवल अतिसूक्ष्म होने से दृश्यमान् नहीं होते वरन् इस कारण भी कि तब वे गतिशील नहीं होते।

अतः व्यक्त वह है जो गतिशील है और परमाणुओं के संयुक्त होने से दिखाई देता है।

जीवात्मा और परमात्मा तो अव्यक्त हैं। इस कारण कि वे किन्हीं दो अथवा अधिक के संयोग से नहीं बने होते और साथ ही वे स्थिर होते हैं।

परमात्मा स्थिर है क्योंकि यह सर्वव्यापक है। जब वस्तु किसी एक स्थान पर हो और दूसरे स्थान पर न हो, तब ही वह गति करती है। परमात्मा सर्व-व्यापक होने से स्थिर है, गति नहीं करता।

जीवात्मा सर्वव्यापक नहीं है। यह अति सूक्ष्म है। परन्तु यह बिना शरीर के गति नहीं करता। इस कारण गति करता हुआ इसका शरीर दिखाई देता है।

मोक्षावस्था में जीवात्मा गति करता है, परन्तु फिर भी दिखाई नहीं देता। वह इसके अति सूक्ष्म तथा स्थिर परमात्मा को प्राप्त हो जाने के कारण है।

९. मोक्ष प्राप्त जीव जब परमात्मा के सम्पर्क में आ जाते हैं तो फिर लौट कर नहीं आते। लौट कर आने का अभिप्राय भी स्पष्ट ही है कि जन्म-मरण वाली योनि में नहीं जाते।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! जिस (परमात्मा) के अन्तर्गत सब भूत (प्राणी) हैं, जिस (परमात्मा) से सब जगत् परिपूर्ण है, वह सबसे श्रेष्ठतम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त करने योग्य है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस काल में योगी जो पीछे इस लोक में लौटने वाले हैं और वे योगी जो नहीं लौटने वाले हैं, शरीर छोड़ते हैं, वह मैं बताता हूँ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि के प्रकाश में, दिन के समय, शुक्ल पक्ष में, उत्तरायण के छः महीनों में ब्रह्मवेत्ता योगीजन जाकर परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

परन्तु वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) इसको स्वीकार नहीं करता। वहाँ कहा है—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ (ब्र० सू० ४-४-१९,

अर्थात्—और इस (मोक्ष) की अवस्था को विकारयुक्त अवस्था कहा है। जो अवस्था विकारयुक्त होगी, वह स्थायी (नित्य) नहीं कही जा सकती। यहाँ अभिप्राय यह है कि यह अवस्था बहुत लम्बे काल तक रहने वाली है।

वेद में भी मुक्त आत्माओं को पुनः माता-पिता के घर में जन्म लेने की इच्छा रखने वाला बताया है।

इस कारण जहाँ-जहाँ मुक्तात्माओं के पुनः न लौट आने की बात कही है, वहाँ अभिप्राय यही है कि मोक्षावस्था अति आकर्षक है। इसकी अवधि बहुत लम्बी होने के कारण ही इसे अनन्त कह दिया है।

यही बात श्रीकृष्ण गीता (४-६) में कहते हैं—'स्वामधिष्ठाय संभवा-म्यात्ममायया' अर्थात् अपने पर अधिकार होने से मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ।

वेद में भी प्रमाण है कि मुक्त जीव परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उनको पुनः इस लोक में जन्म लेने का अवसर मिले।

इससे यह सिद्ध ही है कि गीता में जहाँ पुनः जन्म न लेने की बात कही है, वहाँ अभिप्राय है इस भूलोक पर जन्म न लेने से और 'न निवर्तन्ते' का अर्थ है कि मुक्त जीव कहीं रोके नहीं जाते। वे अपने आने-जाने में स्वतंत्र होते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूमिल ज्योति में, रात्रि में, कृष्ण पक्ष में, दक्षिणायन के छः मास में जो योगीजन मर कर जाते हैं, चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौट आते हैं। यहाँ अभिप्राय है कि कहीं जाने-आने में स्वतन्त्र नहीं होते।[10]

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

ये शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के जगत् के मार्ग हैं। ये सनातन काल से माने गये हैं। एक मार्ग के द्वारा जाने वाले पीछे को नहीं लौटते और दूसरे मार्ग द्वारा जाने वाले पुनः आते हैं।[11]

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे अर्जुन ! इन मार्गों के (रहस्य को) जानने वाला योगी भ्रमित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन ! तू भी योगयुक्त (समत्व बुद्धि) हो।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

योगीजन इस रहस्य को जानकर, यज्ञ, दान, तप, वेद पढ़ने इत्यादि के फल

---

१०. पहले कहा जा चुका है कि योगीजन 'न निवर्तन्ते' अर्थात् इस पृथिवी पर नहीं आते। कुछ भाष्यकार 'निवर्तन्ते' का अर्थ करते हैं कि लौट आते हैं।

हमारा मत है कि मुक्त आत्माएँ इस लोक को लौटती तो हैं परन्तु स्वतंत्र होती हैं कि जहाँ चाहे जायें।

परन्तु यह भी लिखा है कि जो योगीजन अमुक-अमुक समय, स्थिति और स्थान पर शरीर छोड़ते हैं तो वे चन्द्र ज्योति को प्राप्त हो जाते हैं।

गीता में यह तो बताया है कि जो मुक्त होने वाले जीवात्मा हैं, वे स्वतन्त्र घूमते हैं और जो मुक्त होने वाले नहीं, वे जन्म-मरण के बन्धन में फँसे रहते हैं।

यह भी बताया है कि मुक्तात्मा उत्तरायण में शरीर छोड़ते हैं और दक्षिणा-यण में नहीं। ऐसा क्यों है ? गीता में इसका कारण नहीं बताया।

११. अवर्त्तते—का अर्थ लौटना भी है। इसका अर्थ रुकना भी है। आवर्त्त का अर्थ है नहीं रुकते अर्थात् जहाँ जाते हैं, वहाँ नहीं रुकते। यही अर्थ ठीक प्रतीत होते हैं।

का उल्लंघन कर जाते हैं। अर्थात् यज्ञ, दान, तप, वेद-पाठ का फल इससे हीन है।[१२]

---

१२. यज्ञ का अर्थ है कल्याणकारी कार्य। दान भी पर-कल्याण के निमित्त किया जाता है। तप किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किये कर्म को कहते हैं। इन कर्मों से दूसरों को लाभ पहुँचता है और वही लाभ करने वाले को भी पहुँचेगा। यह फल मोक्ष प्राप्ति से हीन है।

इसी प्रकार वेद-पाठ करने से ज्ञान प्राप्त होगा, परन्तु ज्ञान जो कर्म से युक्त न हो, वह ज्ञान केवल बातों-बातों का ही होता है।

यह कहा है कि इन सबसे अधिक फल होता है योगाभ्यास का। योगाभ्यास से बुद्धि निर्मल होती है। वह उचित-अनुचित में भेद बताने के योग्य हो जाती है।

यह जो कहा है कि मरने के समय 'ओं' अक्षर रूप परमात्मा का स्मरण करने से मोक्ष प्राप्त होता है, इसका आशय है कि जो सब काल में 'ओं' का स्मरण करता है, वही मरण-काल में भी 'ओं' का स्मरण कर सकेगा। जो जीवन-भर तो अनाचार तथा अत्याचार करता रहा हो, वह मरने के समय परमात्मा का नाम स्मरण नहीं कर सकता।

नवम अध्याय

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

तुम असूया से रहित हो सको अर्थात् दूसरे में दोष देखने के स्वभाव से रहित हो सको, इस कारण तुम्हें इस परम गोपनीय ज्ञान को विशेष रहस्य सहित कहूँगा। उसे जानकर तुम अशुभ (अकल्याणकारी) विचारों से छूट जाओगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

यह ज्ञान (राज) विद्या (राजनीति) है। उत्तम तथा प्रत्यक्ष फल वाली है; कर्मयुक्त है और सुगमता से पालन किये जाने योग्य तथा अविनाशी है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे अर्जुन! इस धर्म में श्रद्धा न रखने वाला व्यक्ति मुझ (परमात्मा) को प्राप्त न होकर मृत्यु रूपी संसार में रुका रहता है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मुझ अव्यक्त (अदृश्यमान्) स्वरूप (परमात्मा) से यह सब जगत् परिपूर्ण है। सब भूत (प्राणी एवं पाँच भौतिक जगत्) मुझ (परमात्मा) में स्थित है। परन्तु मैं (परमात्मा) उनमें स्थित नहीं हूँ।[१]

---

१. इस अध्याय में यह बताया जा रहा है कि इस पूर्ण जगत् तथा उससे भी परे जो कुछ है, उसका परमात्मा से क्या सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध को जानने से राजनीति, राज्य-रहस्य और अति उत्तम फल वाले धर्म का ज्ञान होता है।

इसमें सर्वप्रथम बात प्रवक्ता ने यह बतायी है कि परमात्मा इस पूर्ण संसार में परिपूर्ण है। उसका स्वरूप अदृश्य है। साथ ही यह कहा है कि यह जगत् उसमें स्थित है, यह नहीं कि वह जगत् में स्थित है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

और सब भूत मुझ (परमात्मा) में स्थित नहीं हैं तू मेरी (परमात्मा की) योगमैश्वरम्—योगमाया (योग में परमात्मा की संयुक्त करने की शक्ति) सब में देख । भूतों (प्राणियों) को धारण करने वाला और उत्पन्न करने वाला परमात्मा तत्त्व उनमें स्थित नहीं है (अर्थात उनके आश्रय नहीं है) ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे आकाश में सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु स्थित है, वैसे ही सम्पूर्ण भूत मेरे में स्थित है, ऐसा जानो ।[२]

मूर्ति को परमात्मा मानने वालों को गीता का प्रवक्ता पहले ही 'मूढ' (मूर्ख) कह चुका है । यहाँ वह पुनः अपने मत को दुहरा रहा है कि परमात्मा अमूर्त (अदृश्यमान्) है । साथ ही वह पूर्ण संसार में व्याप्त है, संसार उसमें व्याप्त नहीं ।

दूसरे शब्दों में, परमात्मा इस जगत् से बहुत बड़ा है । जगत् उसमें ही स्थित है । उसके किस और कितने बड़े कोने में यह स्थित है, इसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती । परमात्मा कितना बड़ा है, यह अभी तक कोई कल्पना भी नहीं कर सका । हाँ, इस जगत् का तो अनुमान लगाया जा सकता है ।

२. सम्पूर्ण भूत का अभिप्राय है पाँच-भौतिक जगत् के सब पदार्थ । सांख्य-दर्शन में पंचभूतों का और उनसे जगत् के अनेकानेक वस्तुओं के बनने का वर्णन है । सत्त्व, रजस्, तमस् की परस्पर साम्यावस्था का नाम प्रकृति है । इसकी असाम्यावस्था का नाम कार्य-जगत् है । जब असाम्यावस्था होती है, तो प्रकृति के परिणामी पदार्थ बनने लगते हैं । प्रकृति से महत्, महत् से तीन अहंकार, अहंकारों से तन्मात्रा और स्थूल भूत, तदनन्तर जगत् के पंच-भौतिक पदार्थ । प्राणी का शरीर भी पंचभौतिक है । प्राणी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और जीवात्मा के संयोग को कहते हैं ।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृति के परिणाम हैं । जीवात्मा इनसे पृथक् एक अनादि तत्त्व है ।

परमात्मा सर्वव्यापक होने से सबमें परिपूर्ण है और ये पंच भौतिक प्रपंच परमात्मा में ही स्थित हैं ।

'परमात्मा इनमें नहीं है' का अभिप्राय है कि परमात्मा इनके अधीन नहीं है ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे अर्जुन ! कल्प के अन्त होने पर सब भौतिक पदार्थ मेरी प्रकृति में (परमात्मा के अधीन प्रकृति में) लीन हो जाते हैं और कल्प के आरम्भ में पुनः मैं उनका सृजन करता हूँ ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

(कल्प के आरम्भ से) प्रकृति को हाथ में लेकर अपने स्वभाव के अधीन मैं इस सम्पूर्ण पंचभौतिक पदार्थ समूह को बार-बार रचता हूँ ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे अर्जुन ! वे (बार-बार रचना के) कर्म मुझको (परमात्मा को) बन्धन में नहीं डालते । उन कर्मों में मैं (परमात्मा) अलिप्त तथा अनासक्त के समान रहता हूँ ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे अर्जुन ! मेरी (परमात्मा की) अध्यक्षता में प्रकृति सचराचर जगत् को रचती है । इस प्रकार जगत् आवागमन के चक्र में घूमता है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मेरी (परमात्मा की) सामर्थ्य को न जानते हुए मूढ़ लोग मुझ (परमात्मा) को मनुष्य शरीर धारण करने वाला समझते हैं ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

जो लोग वृथा की आशायें बनाते हैं, (उनके लिये) वृथा कर्म करते हैं, वृथा ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अज्ञानी जन राक्षसों, असुरों तथा तामसी व्यक्तियों के स्वभाव को धारण करते हैं ।[३]

---

३. वृथा ज्ञान, वृथा कर्म और वृथा आशायें क्या हैं ? इसका ज्ञान इस बात से होगा, जब हम सार्थक ज्ञान, सार्थक कर्म और सार्थक आशा को समझ लेंगे ।

मानव शरीर में जीवात्मा है । ऐसा मानने में प्रबल प्रमाण और युक्तियाँ हैं । वे हम उचित स्थान पर देंगे । यहाँ तो यह बता रहे हैं कि यदि जीवात्मा

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

हे कुन्तीपुत्र ! दैवी स्वभाव के आश्रय जो महात्माजन परमात्मा को सब पदार्थों का बनाने वाला और नाशरहित जानकर एकाग्र मन से भजते हैं;

वे दृढ़व्रती भक्तजन निरन्तर परमात्मा की कीर्ति का वर्णन करने वाले, प्रयत्न करते हुए परमात्मा को नमस्कार करते हैं तथा उसके ध्यान में लगे हुए उपासना (गुण-चिन्तन) करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

मुझ (परमात्मा) को जो, विश्वती (सब ओर) मुख वाला है, सब को

शरीर में है जो अनादि तत्त्व है तो यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि वह यहाँ क्यों है ? शरीर में सुख के साथ-साथ दुःख भी होते हैं। कुछ एक शरीर में दुःख अत्यधिक होते हैं। इस कारण प्रश्न यही है कि फिर जीवात्मा इस शरीर में क्यों आता है ?

यह स्पष्ट है कि वह स्वेच्छा से नहीं आता। उसका शरीर में आना एक विवशता के कारण है।

इस विवशता को पार करना एक सार्थक कर्म है। इसके विषय में ज्ञान सार्थक है और फिर इस विवशता से छुटकारा पाने की आशा सार्थक आशा होगी।

यह अनुमान प्रमाण का विषय है कि कर्मफलों से बँधे हुए मनुष्य इस संसार में आते हैं। अतः उन कर्मफलों से बच सकना सार्थक कर्म होगा और बाँधने वाले कर्म करने व्यर्थ के कर्म होंगे। उन व्यर्थ के कर्मों से बनायी आशायें व्यर्थ होंगी और उन कर्मों का ज्ञान व्यर्थ होगा।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा का एकमात्र कर्म इस शरीर में ऐसी परिस्थिति प्राप्त करना है, जिसमें आनन्द तो हो, परन्तु क्लेश अर्थात् दुःख न हो। ऐसी स्थिति के विपरीत आशा व्यर्थ की आशा है। इसके लिये कर्म, व्यर्थ कर्म और इसका ज्ञान व्यर्थ ज्ञान है।

यह इन्द्रियों के सुख के लिये होगा तो आसुरी कहा जायेगा। यह यदि किसी दूसरे को कष्ट देने के लिये होगा तो राक्षसी कहायेगा। और दोनों अवस्थाओं में यह अकल्याण का सूचक होगा।

देखता है, ज्ञान यज्ञ से भजन किया जाता है (जाना जा सकता है), ऐसा (एकत्वेन) एक मानकर कुछ मेरा चिन्तन करते हैं और कुछ (पृथक्त्वेन) अनेक रूप समझकर मेरी उपासना (चिन्तन) करते हैं।[४]

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

यह जगत् रचना रूपी यज्ञ हो रहा है। इसका करने वाला मैं (परमात्मा) हूँ। स्वधा (जो स्वयं स्थित है अर्थात् प्रकृति) का रक्षक मैं (परमात्मा) ही हूँ; वनस्पति को उत्पन्न करने वाला मैं (परमात्मा) हूँ, इस रचना रूपी यज्ञ में घी मैं (परमात्मा) हूँ और इस यज्ञ में उत्पन्न होने वाली अग्नि भी मैं (परमात्मा) ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

जगत् (गतिशील संसार) का पिता, माता, धारण करने वाला और पितामह मैं (परमात्मा) ही हूँ। पवित्र ओंकार, ऋक्, यजुः, साम भी मैं हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

(इस जगत् की) गति, पालन करने वाला स्वामी, सब के कर्मों का साक्षी, सब का निवास स्थान, सबका आश्रय स्थान, सबको शरण देने वाला, सबका हित करने वाला मैं (परमात्मा) ही हूँ।

---

४. 'विश्वतोमुखम्' से अभिप्राय है परमात्मा का मुख सब ओर है अर्थात् वह सब को देखता है। उसकी पीठ किसी ओर नहीं अर्थात् कोई उससे ओझल नहीं है। कुछ लोग इस पूर्ण विश्व को उस एक परमात्मा का बनाया हुआ मानते हैं वे इस सब जगत् को एक ही समझ उसकी उपासना करते हैं।

उपासना का अभिप्राय है समीप बैठना। समीप बैठकर परमात्मा का भली-भाँति परिचय प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना।

कुछ लोग सम्पूर्ण विश्व को एक समझ उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। कुछ दूसरे हैं जो जगत् के एक-एक पदार्थ को लेकर उससे परमात्मा की उपासना अर्थात् उसका चिन्तन कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

परमात्मा के गुणों का ज्ञान उसकी कर्तृत्व शक्ति (योगमाया) से प्राप्त होता है। कोई तो सम्पूर्ण जगत् का चिन्तन करता है और उसकी महिमा का गान करता है और कोई इस निर्मित जगत् के एक पदार्थ का, उसकी योगमाया का चिन्तन कर, ज्ञान प्राप्त करता है। इसे ही गीता के प्रवक्ता ने ज्ञान यज्ञ कहा है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।१६।।

मैं (परमात्मा) ही पृथ्वी को तपाता हूँ और फिर वर्षा को लाता हूँ और वर्षाता हूँ ।

सत् (प्रकृति का स्वरूपवान् रूप) और असत् (प्रकृति का अस्वरूपवान् रूप) मेरे (परमात्मा के) ही कारण और सत् (नष्ट होने वाला) अथवा असत् (नष्ट होने वाला) मुझ (परमात्मा) से ही है ।[५]

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।।२०।।

त्रैविद्या (जानने वाले), सोम रस को पीने वाले, पापों से पवित्र जन, यज्ञों द्वारा मेरी (परमात्मा की) पूजा कर अपने पुण्यों से इन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं और दिव्य भोगों को भोगते हैं ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।२१।।

वे जीवात्मा विशाल स्वर्ग लोक का भोग कर के पुण्य (कर्म) समाप्त होने पर पुनः मृत्यु लोक में आते हैं। इस प्रकार त्रयी धर्म के आश्रय भोगों की कामना वाले लोग बारम्बार मृत्यु लोक को आते हैं ।[६]

---

५. यद्यपि इस श्लोक में तथा अन्य स्थानों पर इसी प्रकार सत् और असत् (है और नहीं है) को परमात्मा ही कहा है, परन्तु हम समझते हैं कि प्रवक्ता की भाषा और पूर्वापर का विचार कर अर्थ यही मानना चाहिये कि यह परमात्मा के करने से ही बनते हैं अथवा बिगड़ते हैं अथवा जो नहीं दिखाई देते और जो दिखाई देते हैं, परमात्मा के करने से हैं ।

६. यहाँ श्लोक (१६,२०,२१) में बताया है कि संसार में पुण्य कर्म (कामनाओं से) करने वालों को अर्थात् किसी उद्देश्य से कर्म करने वालों को शुभ फल तो मिलता है, परन्तु उन कामनाओं की पूर्ति ही फल है। उसके अतिरिक्त शुभ कर्मों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता ।

प्रायः त्रयी विद्या का अर्थ वेद विद्या किया जाता है, परन्तु हमारा मत है कि त्रयी विद्या से अभिप्राय है तीन वर्णों के कर्म । श्लोक ६-२१ में त्रयी विद्याओं का उल्लेख है। वहाँ भी अभिप्राय है कि ब्रह्मचर्याश्रम-धर्म, गृहस्थाश्रम धर्म और वानप्रस्थाश्रम धर्म । इन तीन वर्णों के धर्मों की विद्या और इनके धर्मों पर आचरण त्रयी विद्या है ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।२२।।

जो लोग निरन्तर अनन्यभाव से मेरा (परमात्मा का) चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, वे नित्य भाव से परमात्मा से युक्त होते हैं, उनको मैं, (परमात्मा) स्वयं योग-क्षेम प्राप्त कराता हूँ ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।२३।।

हे अर्जुन ! जो श्रद्धा से युक्त होकर अन्य देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु वह उपासना अविधिपूर्वक है । अर्थात् उनका पूजन अज्ञानपूर्वक है ।[७]

इस त्रयी विद्या के जानने वाले और इस त्रयी धर्म का पालन करने वाले स्वर्ग लोक, जिसे इन्द्र लोक कहा है, को प्राप्त होते हैं ।

चन्द्र लोक से क्या अभिप्राय है, यह नहीं बताया। इस नाम का लोक, ज्योतिष विद्या अर्थात् अन्तरिक्ष का ज्ञान रखने वाले नहीं बताते ।

इतना तो स्पष्ट ही है कि इस भू-लोक पर भी कुछ लोग सब सुख-सुविधा से सम्पन्न परिवारों में उत्पन्न होते हैं । गीता के प्रवक्ता का यह अभिप्राय हो सकता है कि वर्ण धर्म के ज्ञाता और उसका पालन करने वाले इसी भू-लोक में (गतागतं) आ जाते हैं और सुख भोग करते हैं ।

ऋग्वेद (१-१६४-३७,३८,३६) में भी कहा है कि जब जीवात्मा का मन से संयोग हुआ तब उसे ज्ञान और वाणी मिली। इस पर भी जीवात्मा परेशान है कि वह इस शरीर में बंदी क्यों है ? वेद कहता है कि कर्म कर ऊपर की योनियों अथवा नीचे की योनियों में जाने के लिये। ऊपर की योनियों में जाने के लिये परमात्मा ने उसे वेद का ज्ञान दिया है ।

यही गीता का अभिप्राय है । चन्द्रलोक कौन सा है यह स्पष्ट नहीं किया; परन्तु कदाचित् इसका अभिप्राय है कि इसी संसार में शान्त, सौम्य स्वभाव वाले परिवारों में उनका जन्म होता है ।

७. श्लोक ६-२३ में जो कहा है, वह पहले श्लोक ७-२१, २२, २३ में भी कह आये हैं ।

इस अध्याय में गीता का प्रवक्ता उपासना की बात कर रहा है। उसने बताया है कि सब पदार्थों में परमात्मा की ही शक्ति कार्य कर रही है, अतः उन पदार्थों की उपासना (चिन्तन) भी उसी की ही उपासना है, परन्तु इस प्रकार वैदिक विधि के विपरीत है और इसका फल भी उलटा ही होता है ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि सब यज्ञों (कल्याणकारी कर्मों) का फल प्राप्त कराने वाला और उन कर्मों का स्वामी भी मैं (परमात्मा) ही हूँ और वे (अधिदेवों की उपासना करने वाले) तत्त्व को नहीं जानते । इस कारण वे बार-बार जन्म को प्राप्त होते हैं ।[८]

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

दिव्य पदार्थ के प्रति दृढ़ता से उपासना (चिन्तन) करने वाले इसी प्रकार पितरों को (अपने पूर्वज, महापुरुषों) का चिन्तन करने वाले और भूतों (पंच

सातवें अध्याय में कहा था कि जो-जो पुरुष, जिस-जिस देवता की उपासना करता है, वह उस-उस देवता को प्राप्त होता है, परन्तु उस प्राप्ति का फल अस्थाई है ।

वस्तुस्थिति यह है कि जो ज्ञान अथवा विज्ञान के विद्वान् प्रकृति के पदार्थों (अधिदेवों) का चिन्तन करते हैं, वे उन देवों में कार्य करते हुए परमात्मा का ही चिन्तन और ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं, परन्तु उन पदार्थों का परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग उलटा है तथा वह अस्थाई है । वे देवता प्रसन्न हो अपना रहस्य ऐसे विद्वानों को प्रकट कर देते हैं । इससे उस रहस्य को जानकर उपासक फल तो प्राप्त करता है, परन्तु यह फल चिन्तक (अन्वेषक) को उसके जीवन काल तक ही मिलता है और यह मिथ्या विधि से फल प्राप्त होता है । इस कारण वे मिथ्या फल को ही प्राप्त करते हैं ।

सांसारिक वैभव प्राप्त होता है अधिदेवों की उपासना से, परन्तु वर्तमान जन्म तक ही वह वैभव रहता है । उसका फल जीवात्मा के साथ अगले जन्म तक नहीं जाता ।

८. कर्म करने की शक्ति तो परमात्मा की ही होती है । इस कारण सब कर्म उसकी शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं । परन्तु जैसा कि ब्र० सू० १-३-१८ में बताया है कि परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के प्रयोग के लिए प्राप्त हुई है । इस कारण उस शक्ति के प्रयोग का फल जीवात्मा को ही होना है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब कल्याणकारी कर्मों (यज्ञ) में शक्ति परमात्मा की ही प्रयुक्त होती है और उन कर्मों का स्वामी भी परमात्मा ही है । इस कारण सब कर्म करने वाले परमात्मा की सामर्थ्य का ही पूजन करते हैं । अतः वे भले परिवारों में जन्म लेते हैं, परन्तु परमात्मा के विषय में तत्त्व को न जानते हुए वे उन कर्मों को ही सब-कुछ समझ बैठते हैं और फिर बार-बार इस लोक (भू-लोक) में ही जन्म लेते हैं ।

भौतिक पदार्थों) का चिन्तन करने वाले उनको प्राप्त करते हैं । परन्तु मेरे (परमात्मा के) भक्त मुझ (परमात्मा) को प्राप्त होते हैं ।[९]

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो कोई मेरा (परमात्मा का) भक्त पत्र, पुष्प, फल मेरे (परमात्मा के) लिए प्रेम से अर्पण करता है, प्रेमपूर्वक अर्पण किये गये ये सब पदार्थ मैं (परमात्मा) लेता हूँ ।[१०]

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो (अपने आचरण में) तप करता है, वह सब तू मेरे (परमात्मा के) अर्पण कर ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार त्याग और योग की भावना से युक्त तू शुभ और अशुभ फल

---

९. देवताओं (संसार के दिव्य पदार्थों) का ज्ञान प्राप्त कर उसका प्रयोग करने वाले उन दिव्य पदार्थों को पा लेते हैं । यह वैज्ञानिकों के विषय में कहा है । जो पितरों (अपने प्रतिष्ठित पूर्वजों) के प्रति श्रद्धा भक्ति से चिन्तन करते हैं, वे उनको प्राप्त होते हैं अर्थात् वैसे ही हो जाते हैं । यह राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर जैसे पुरुषों का चिन्तन करने वालों के विषय में कहा है । जो भूतों (भौतिक पदार्थों) का चिन्तन करते हैं, उनको वे पदार्थ प्राप्त होते हैं । यह सांसारिक सुख-विलास का चिन्तन करने वालों के विषय में कहा है । परमात्मा इनसे पृथक् है । उसका चिन्तन करने वाले उसे ही पाते हैं ।

१०. ऊपर के श्लोक (६-२५) में कहा है कि दान दक्षिणा इत्यादि देने वालों को उसी रूप में फल मिलता है । साथ ही यह कहा है कि परमात्मा के भक्त परमात्मा को प्राप्त होते हैं । इस श्लोक (६-२६) में 'परमात्मा के भक्त' का अभिप्राय क्या है ? क्या ओं-ओं अथवा राम-राम कहने वाला परमात्मा का भक्त होता है ? गीता का प्रवक्ता जप से परमात्मा की भक्ति नहीं मानता । वह कहता है कि पत्र, पुष्पफल, (जो भी पदार्थ इत्यादि) तुम दान करते हो अथवा कहीं कल्याण कार्य के लिए देते हो, वह किसी प्रतिकार की भावना से न देकर परमात्मा के अर्पण करोगे तो तुम परमात्मा को प्राप्त होवोगे ।

वाले सब प्रकार के कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जायेगा । कर्म बन्धन से मुक्त हुआ मुझको (परमात्मा को) प्राप्त होगा ।"

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

मैं (परमात्मा) सब प्राणियों में समभाव से उपस्थित हूँ (सबसे समान व्यवहार रखता हूँ)। न मेरा कोई अप्रिय है, न प्रिय है । जो मुझे प्रेम से भजते हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ ।"

११. परमात्मा को प्राप्त करने का अभिप्राय श्लोक ९-२७ में बताया है । कहा है कि जो भी कर्म करो, जो खाओ, पियो अथवा(यज्जुहोषि) यज्ञ रूप प्रयोग करो, वह परमात्मा के अर्पण करोगे तो परमात्मा उसको स्वीकार करेगा और तब भक्त परमात्मा को प्राप्त होगा ।

यही कुछ श्लोक ९-१८ में भी कहा है । परमात्मा को प्राप्त होने का अभिप्राय है कि शुभ-अशुभ कर्मों के फल से मुक्त होकर मोक्षावस्था को प्राप्त होता है ।

यह माना जाता है कि कर्म का फल प्राप्त होता है । शुभ कर्मों का शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ फल प्राप्त होता है। दोनों प्रकार के फलों को भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है । इस प्रकार कर्मों के कारण प्रकृति के बन्धन में आना पड़ता है ।

गीता का प्रवक्ता कहता है कि शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों से मुक्त होकर ही शरीर (प्रकृति) के बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है ।

इसका उपाय गीता का प्रवक्ता यह बताता है कि वह जो कुछ भी कर्म करे, परमात्मा के अर्पण कर करे। कर्म-फल की आशा का त्याग कर परमात्मा के निमित्त कर्म करने से सब प्रकार के फलों से छुटकारा पाया जा सकता है । यही मोक्षावस्था देने वाला है ।

१२. परमात्मा सब प्राणियों के लिए समभाव से उपस्थित होता है । अर्थात् परमात्मा अपनी कृपा का प्रसाद सबको समान रूप में देता है । सूर्य का प्रकाश और ऊर्जा तथा पृथ्वी से प्राप्त पदार्थ सब (भले, बुरे) के लिए समान रूप से प्राप्त होते हैं, परन्तु भले लोग परमात्मा से दिये पदार्थों का सदुपयोग करते हैं और दूसरे उन वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं । सदुपयोग और दुरुपयोग आपेक्षक अर्थ वाले शब्द हैं । गीता का प्रवक्ता कह रहा है कि कर्म करने वाला अर्थात् परमात्मा की शक्ति का प्रयोग करने वाला यदि उसका प्रयोग अपने विचार से यज्ञरूप में (सबके कल्याण के लिए) करता है और अपने किये के फल को ईश्वरार्पण करता है तो वह परम गति को प्राप्त होता है । जो सब कर्म यज्ञ-रूप

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

और यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी एकाग्र चित्त से मुझ (परमात्मा) को भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है ।"

क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है । हे अर्जुन ! यह निश्चयपूर्वक जान कि मेरा (परमात्मा का) भक्त नष्ट नहीं होता ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप योनि वाले भी जो मेरी शरण में आते हैं, वे परम गति को प्राप्त होते हैं ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

तो फिर ब्राह्मण और अन्य पुण्य कर्म करने वाले राजऋषि भक्तजन के विषय में क्या कहना । इस कारण हे अर्जुन ! तू इस लोक में नाशवान जीवन का विचार छोड़कर मेरा (परमात्मा का) भजन कर ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मेरे (परमात्मा के) अनुकूल मन वाला हो, मुझ (परमेश्वर) में भक्ति रखने वाला हो, मेरा (परमात्मा का) प्रशंसक, मुझे (परमात्मा को) नमस्कार करता हुआ मेरे (परमात्मा को) आश्रय होकर अपने आत्मा को मुझसे (परमात्मा

हो (ईश्वरार्पण) करता है, उनमें वह अपने हित का विचार नहीं करता, वह श्रेष्ठ गति को ही प्राप्त होता है ।

१३. यह कहा है कि जो अपने व्यवहार को निष्काम भाव में रखता है वह साधु ही कहा जाता है । लोक दृष्टि में अच्छे और बुरे कर्म सब भले हो जाते हैं जब निष्काम भाव से किये जाते हैं ।

गीता का प्रवक्ता कदाचित् स्त्री शरीर को पुरुष शरीर की अपेक्षा हीन मानता है । इस पर भी, वह कहता है कि उस शरीर में भी निष्काम भाव से किया कर्म श्रेष्ठ गति वाला होता है ।

से) ही युक्त कर दे; तू मुझ (परमात्मा) को ही प्राप्त होगा।[१४]

---

१४. परमात्मा को प्राप्त होने का अभिप्राय है मोक्षावस्था प्राप्त करना। यही इस अध्याय का विषय है।

यह माना जाता है कि प्राणी का जीवात्मा दो प्रकार के शरीरों से लिपटा हुआ होता है। एक को स्थूल भूत शरीर कहते हैं और दूसरे को सूक्ष्म भूत शरीर। स्थूल भूतों में प्रकृति का रूप परिमण्डलीय होता है और सूक्ष्म भूतों में यह अव्यक्त रूपों में कहा जाता है। प्रकृति के अव्यक्त रूप हैं, प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्रा।

यद्यपि सूक्ष्म-भूत शरीर में अव्यक्त जीवात्मा प्रकृति के अव्यक्त रूप में लिपटा होता है, इस पर भी यह मुक्तावस्था में नहीं माना जाता। सूक्ष्म शरीर से छुटकारा दो अवस्थाओं में मिलता है। एक प्रलय काल में, जब प्रकृति परमाणु रूप में हो जाती है। तब जीवात्मा प्रकृति के बन्धन से बाहर हो जाता है, परन्तु यह मुक्तावस्था नहीं होती। यह अपवर्ग की अवस्था तो है, परन्तु मुक्तावस्था नहीं।

अपवर्ग का अभिप्राय है प्रकृति के वर्ग से बाहर। दूसरी अवस्था है जब जीवात्मा ज्ञानयुक्त हो जाता है। तब जीवात्मा प्रकृति के बन्धन (स्थूल और सूक्ष्म) से बाहर हो जाता है। परन्तु जब आत्मा ज्ञानवान् होकर इस बन्धन से छूटता है तब वह परमात्मा में स्थित हो गया कहा जाता है। परमात्मा अव्यक्त है। तब जीवात्मा भी, प्रकृति के बन्धन से बाहर हो परमात्मा में मिल जाता है। प्रलयकाल में तो जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था होती है और ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति के बन्धन से छूटने की अवस्था मुक्तावस्था कहाती है।

किस प्रकार यह अवस्था प्राप्त हो सकती है, इसका वर्णन ही इस अध्याय में किया गया है।

दशम अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम (अति विचारित) वचन को सुन। तेरा मुझमें अतिशय प्रेम है। इस कारण मैं जो कहूँगा, तेरे हित में ही कहूँगा।[१]

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥२॥

मेरी (परमात्मा की) उत्पत्ति को न देवता लोग जानते हैं, न ही महर्षिजन।

---

१. गीता में प्रायः स्थानों पर माम्, मया, मम इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्द परमात्मा के लिये कहे गये हैं। परन्तु कहीं-कहीं श्रीकृष्ण इन शब्दों का प्रयोग अपने लिये भी करते प्रतीत होते हैं। गीता ४-१, ३, ५ इत्यादि श्लोकों में श्रीकृष्ण ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। वास्तव में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि गीता के प्रवक्ता ने ये शब्द श्रीकृष्ण (व्यक्ति) के लिए प्रयोग किये हैं। इस उपर्युक्त श्लोक में भी 'मैं' शब्द श्री कृष्ण के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

यह हम बता चुके हैं कि युद्ध भूमि पर पूर्ण गीता नहीं कही गयी थी और ऐसा ही युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि २-३९ तक का प्रवचन युद्ध भूमि पर ही हुआ था और इसके उपरान्त का प्रायः सब-का-सब महर्षि व्यास ने, महाभारत ग्रन्थ की रचना करते समय लिखा। युद्धभूमि पर दिये प्रवचन को अधिक स्पष्ट तथा उपकारी बनाने के लिए ऐसा किया गया था। युद्ध के तीस वर्ष उपरान्त महाभारत ग्रन्थ लिखा जाना आरम्भ हुआ और यह वृद्धि पाता रहा महाराज जन्मेजय के सर्प यज्ञ तक। उस समय वैशम्पायन ने यज्ञ के उपरान्त इसका प्रवचन किया था। प्रवचन करते हुए कई श्लोक और कथानक के कई अंश वैशम्पायन के नाम से हैं। सर्पयज्ञ के समय महर्षि व्यास जीवित थे और ऐसा सम्भव है कि वैशम्पायन द्वारा कही गई कथा के वे अंश महर्षि व्यास की अनुमति से मूल ग्रन्थ में सम्मिलित किये गये हों।

क्योंकि मैं (परमात्मा) इन देवताओं और महर्षियों का आदि कारण (उत्पन्न करने वाला) हूँ।[२]

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।३।।

जो मुझ (परमात्मा) को अजन्मा, अनादि तथा लोकों का महान् निर्माण करने वाला, ऐसा जानते हैं, वे मनुष्य ज्ञानवान् और सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

बुद्धि, ज्ञान, मोह से पृथक् होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण मन की शान्ति, सुख-दुःख, उत्पत्ति और मृत्यु भय तथा अभय;

अहिंसा (द्वेष का अभाव), समता, सन्तोष, तप (परिश्रम), दान, यश और अपयश, ये प्राणियों की नाना प्रकार की स्थितियाँ मेरे (परमात्मा) से ही होती है।[३]

---

२. इस श्लोक में शब्द है 'सुरगणाः' और 'महर्षयः'। इनसे अभिप्राय अदिति तथा कश्यप की सन्तान है। सृष्टि के आदि में मैथुनीय सृष्टि में ये सबसे पहले बने थे।

'महर्षयः' से अभिप्राय छः महर्षियों से है जो पृथ्वी पर अमैथुनीय सृष्टि में सबसे पहले उत्पन्न हुए थे। गीता का प्रवक्ता कहता है कि ये लोग भी नहीं बता सकते कि परमात्मा कब हुआ था। कारण कि परमात्मा ही इनको पैदा करने वाला था।

३. इन श्लोकों (गीता १०-४, ५) में परमात्मा क्या-क्या कर सकता है, इसका वर्णन है। इन श्लोकों में कुछ कार्य ऐसे गिनाये हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य जीवन से है। वैसे तो मनुष्य जीवन के अन्य कार्य भी हो सकते हैं, जिनका सम्बन्ध परमात्मा से हो, परन्तु यहाँ मुख्य-मुख्य कार्यों का ही उल्लेख किया गया है।

ये कार्य परमात्मा किस प्रकार मनुष्य से करवाता है, इसका उल्लेख वेद में तथा दर्शनशास्त्रों में भली प्रकार आता है। परमात्मा की शक्ति संसार में प्राण के रूप में प्रकट होती है। यह प्राण के रूप में जब आती है तो सात प्रकार की हो जाती है। (ऋ० १-१६४-१ तथा ब्र० सू० २-४-५)। यह प्राण परमात्मा जीवात्मा को देता है और जीवात्मा उनसे कार्य करता है। इस शक्ति के मनुष्य

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।६।।

सृष्टि रचना के समय सात महर्षियों और चार विरक्त (सनकादि जीवों को (उत्पन्न करने वाले), पूर्ण ब्रह्म दिन में होने वाले चौदह मन्वन्तरों में परिवर्तनों को लाने वाले मनु, सबके सब मेरे (परमात्मा के) संकल्प से (योजनानुसार) उत्पन्न हुए हैं। इनसे ही सम्पूर्ण प्रजाओं की उत्पत्ति हुई है।[४]

में उपस्थित होने से ही सब प्रकार के कार्य होते हैं, जिनका इन श्लोकों में उल्लेख है। वे हैं बुद्धि, ज्ञान, मोह से दूर हटना, क्षमा, सत्य पर दृढ़ रहना, मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण, चित्त की शान्ति, सुख-दुःख का अनुभव, जन्म-मृत्यु, भय रहित होना, द्वेष का अभाव, सबसे समान भाव, संतोष, परिश्रम, दान, यश-अपयश। साथ ही कह दिया है कि प्राणियों के अनेक प्रकार के पृथक्-पृथक् व्यवहार परमात्मा की शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं।

इस पर भी परमात्मा की शक्ति का प्रयोग जीवात्मा अपनी रुचि (इच्छा) के अनुसार करता है। इस कारण उन कर्मों का फल-कुफल का भोक्ता वह ही है।

४. सृष्टि-रचना में परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होने से लेकर पूर्ण विकसित जगत् के बनने तक तथा विघटन होते-होते पुनः परमाणु की साम्यावस्था बनने तक की पूर्ण प्रक्रिया चौदह मन्वन्तरों में बांटी गयी है। यह माना जाता है कि प्रत्येक मन्वन्तर के बदलने पर, परमात्मा की शक्ति से रचना में मोड़ आता है। ये मोड़ भी परमात्मा की कृपा से ही आते हैं। पृथिवी बनने पर उस पर मानव सृष्टि होने से पहले छः महर्षि उत्पन्न हुए और सनकादि विरक्त जीव उत्पन्न हुए। महाभारत में महर्षियों की संख्या छः कही है। यहाँ सात कही है। महर्षि उनको कहा गया है जिन्होंने छन्दों (तरंगों) के रूप में आ रहे वेदों को मानवीय भाषा में कहा।

इन छः महर्षियों के नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलहा और क्रतु। सातवां महर्षि ब्रह्मा माना जाता है। ये महर्षिगण और ब्रह्मा अमैथुनीय सृष्टि के थे। इनको परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति ने ही उत्पन्न किया था।

ये सब परमात्मा की कल्पना मात्र से बन गये थे। कल्पना का अभिप्राय है योजना।

श्लोक १०-७ में शब्द विभूति है। इसका अभिप्राय है परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति। 'परमात्मा में स्थित' का अर्थ मोक्षावस्था भी है। इसका सामान्य अर्थ है परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला।

परमात्मा के अस्तित्व को दर्शन शास्त्रों में सिद्ध किया है। जैसे ब्रह्मसूत्र

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

जो इस मेरी (परमात्मा की) विभूति (परम शक्ति) और संयुक्त करने की सामर्थ्य को तत्त्व से जानता है, वह अचल योग द्वारा मुझ (परमात्मा) में स्थित हो जाता है। इसमें संशय नहीं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं (परमात्मा) ही सब (जगत्) की उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझसे (परमात्मा से) ही सब जगत् व्यवहार करता है। मेरे (परमात्मा के) अस्तित्व से ही संयुक्त होकर बुद्धिमान लोग मुझको तत्त्व से समझकर मेरा (परमात्मा का) स्मरण करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मुझ (परमात्मा) में चित्त लगाने वाले अपने प्राण से मेरा (परमात्मा का) ही अनुकरण करने वाले, सदा आपस में मेरी (परमात्मा की) चर्चा करते हुए और जानते हुए तथा (उससे ही) सन्तुष्ट होते हुए मुझ (परमात्मा) में ही रमण करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

उन सदा परमात्मा से युक्त हुए और उसका प्रेमपूर्वक भजन करने वालों को मैं ऐसी बुद्धि देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन पर (परमात्मा में चित्त लगाने वालों पर) अनुग्रह करने के लिये ही मैं (परमात्मा) उनके भीतर उपस्थित हुआ उनके अन्धकारमय अज्ञान को ज्ञान के दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

(१-१-२) में कहा है कि जिससे जगत् का निर्माण, पालन और अन्त होता है, वह परमात्मा (ब्रह्म) है। यह एक अकाट्य युक्ति है।

परन्तु गीता में युक्ति नहीं, केवल सिद्धान्तों का वर्णन है। परमात्मा का होना एक वैज्ञानिक (युक्तियुक्त) तथ्य है। इसको मनुष्य बुद्धि से माना जाता है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन ने कहा—आप (परमात्मा) परम (सर्वोत्कृष्ट) ब्रह्म हैं। आपका निवास स्थान परम (बहुत महान्) और पवित्र है क्योंकि आपसे सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष आदि देवगण उत्पन्न हुए हैं। सब ऋषिजन आपको अजन्मा, सर्वव्यापक कहते हैं। आपने स्वयं ऐसा कहा है और देवर्षि नारद, ऋषि देवल, व्यास भी ऐसा कहते हैं।[5]

---

५. ऊपर के प्रायः अध्यायओं और श्लोकों में जहाँ-जहाँ भी कृष्ण ने माम्, मम, मय इत्यादि शब्द प्रयोग किये हैं, वहाँ उनका अर्थ परमात्मापरक है।

श्रीकृष्ण एक यदुवंशीय मनुष्य वसुदेव के पुत्र थे और गीता में कहा है कि परमात्मा अव्यक्त और अव्यय है। इस कारण जहाँ माम्, मम, इत्यादि शब्द आये हैं, उनके अर्थ परमात्मा ही बनते हैं। वासुदेव इत्यादि शब्द अव्यक्त, अव्यय तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं वहाँ वे परमात्मापरक हैं, वासुदेव (वासुदेव के पुत्र कृष्ण) के लिये नहीं।

इसमें महाभारत का अपना प्रमाण भी है। महाभारत में श्रीकृष्ण स्वीकार करते हैं कि उन्होंने गीता प्रवचन योगयुक्त अवस्था में कहा था। योगयुक्त अवस्था का अभिप्राय है, जब जीवात्मा परमात्मा से युक्त होता है। उस समय परमात्मा का वर्णन करते हुए अपने को परमात्मा मान कथन किया जाना आश्चर्य-जनक नहीं।

सब विभूतियुक्त व्यक्तियों तथा वस्तुओं में परमात्मा की शक्ति विशेष मात्रा में रहती है। परमात्मा की शक्ति, जो एक प्राणी में अथवा किसी वस्तु में होती है, वह प्राण अथवा तेज कहाती है। जिसके अधीन वह प्राण शक्ति अधिक मात्रा में होती है वह व्यक्ति विशेष विभूतियुक्त हो जाता है।

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर जब अर्जुन ने कहा कि आप ब्रह्म हैं, तो यह वार्तालाप की उसी शैली के अनुरूप है।

कृष्ण ने जब कहा—अहं सर्वस्य प्रभवो (मैं सबके होने में कारण हूँ) तो यहाँ मैं से अभिप्रायः परमात्मा ही है।

इसी प्रकार जब अर्जुन ने कहा—'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' (आप परम ब्रह्म हैं, जो परम पवित्र स्थान में रहते हैं) तो यहाँ आपका अभि-प्राय भी परमात्मा ही लेना चाहिये। वसुदेव के पुत्र कृष्ण का जन्म हुआ था,

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव (कृष्ण)! जो कुछ आपने मुझे कहा है (परमात्मा के विषय में), वह मैं सत्य मान रहा हूँ। परमात्मा के (व्यक्तिम्) व्यक्तित्व को, न दानव जानते हैं, न देवता।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

आप स्वयं ही स्वयं को जानते हैं। हे भूतों को उत्पन्न करने वाले, हे ईश्वर, हे देवों के देव ! हे जगत के स्वामी !

अभिप्राय यह है कि परमात्मा इस संसार में पुरुषोत्तम, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। वह स्वयं ही अपने को जानता है। सब प्राणियों को उत्पन्न करता है और उनका स्वामी है। वह पूर्ण जगत् का पति है।

तथा उसकी मृत्यु का भी वर्णन मिलता है। इस कारण कृष्ण जो अर्जुन का सारथी था, वह ब्रह्म, जो परम धाम में रहता है और विभु (सर्वव्यापक) है, नहीं हो सकता।

यह कहा जाता है कि वासुदेव कृष्ण की आत्मा साक्षात् परमात्मा थी। यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वासुदेव कृष्ण का इतिहास एक मनुष्य का इतिहास है। मनुष्य में जीवात्मा परमात्मा नहीं हो सकता। वैसे परमात्मा की शक्ति प्रत्येक प्राणी को न्यूनाधिक मिलती है। कृष्ण इत्यादि महापुरुषों में परमात्मा की वह शक्ति बहुत अधिक मात्रा में थी।

इसी कारण श्लोक १०—१२,१३ तथा इसके आगे आने वाले श्लोकों में जो कुछ कृष्ण के लिये कहा गया है, वह परमात्मापरक ही समझना चाहिये। यह गीता की शैली है।

शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते हैं। शाब्दिक अर्थ (प्रधान) और तात्त्विक अर्थ। तात्त्विक अर्थ पूर्वापर को देखकर लगाये जाते हैं। यहाँ परमात्मापरक अर्थ तात्त्विक अर्थ हैं।

इन श्लोकों में परमात्मा को परं ब्रह्म कहा है। यह इस कारण कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के लिये भी किया जाता है। ब्रह्मों में जो सबसे श्रेष्ठ सर्वाधिक शक्तिशाली तथा सर्वज्ञ है, वह परम ब्रह्म है।

परम धाम का भी अभिप्राय महान् तथा अति पवित्र स्थान है। यह स्थान सीमारहित है। ब्रह्मसूत्रों में कहा है—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः। ब्र० सू० १-३-१०।

अम्बर के अन्त तक उसका निवास स्थान है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

आप (परमात्मा) ही अपनी दिव्य विभूतियों (विशेष गुणों) को कहने के योग्य हैं, जिन विभूतियों से आप सब लोकों में व्यापक होकर स्थित हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगेश्वर (कृष्ण) ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आप (परमात्मा) को जान सकता हूँ ? हे भगवान ! (आप) किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं।[6]

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन (कृष्ण) ! अपनी योग शक्ति का और (परमात्मा की) विभूतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये। आप (कृष्ण) के अमृत रूपी (सदा सत्य सिद्ध) वचनों को सुनकर मेरी तृप्ति नहीं हुई।

श्रीकृष्ण उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं तेरे लिये अपनी (परमात्मा की) दिव्य विभूतियों में मुख्य-मुख्य के विषय में बताऊंगा। क्योंकि मेरी (परमात्मा की) विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं।[7]

यहाँ व्यास, महाभारत का रचयिता व्यास नहीं कहा। व्यास कई हो चुके हैं। यहां व्यास के कथन से उन सभी व्यासों का अभिप्राय है।

६. हमने 'योगिं' का अर्थ कृष्ण ही किया है। परन्तु त्वाम् का अर्थ परमात्मा किया है। शब्दों के अर्थ प्रकरण को देखकर लगाने से ऐसा ही सिद्ध होगा।

कृष्ण परमात्मा के गुण वर्णन करता हुआ 'मैं,' 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार त्वाम् से परमात्मा का भाव प्रकट होता है। इसी कारण इसके वैसे ही अर्थ किये हैं।

ग्रन्थों के अध्ययन और विशेष रूप में काव्यों में लेखों का अर्थ लगाने के लिये पूर्वापर (सन्दर्भ) को देखकर अर्थ लगाये जाते हैं।

७. विभूति का अर्थ है—महिमा, प्रतिष्ठा, शक्ति (achievements)।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन ! मैं (परमात्मा) सब भूतों (प्राणियों) के हृदय में स्थित, सबका आत्मा हूँ और प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ ।[८]

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु, प्रकाश देने वालों में सूर्य, वायुओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्र मैं ही हूँ ।[९]

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतन मैं हूँ ।[१०]

---

८. ब्रह्मसूत्रों में कहा है—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।

ब्र० सू० १-२-११ ।

अर्थात्—प्राणी के हृदय की गुहा में दो आत्मा बैठे हैं। एक जीवात्मा और दूसरा है परमात्मा ।

प्राणी में परमात्मा अपनी शक्ति जीवात्मा को देता है। इस विषय में भी ब्रह्मसूत्र में कहा है—

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥

ब्र० सू० १-३-१८ ।

यही बात गीता में कही है कि परमात्मा की शक्ति का प्राकट्य असंख्य स्थानों में होता है । प्राणियों के हृदय की गुहा में बैठा हुआ परमात्मा प्राणी का जन्म, पालन और प्राणी की मृत्यु करता है ।

९. गीता का प्रवक्ता संसार के भिन्न-भिन्न विभूतियुक्त पदार्थों की गणना करा रहा है। उसका आशय है कि उनमें परमात्मा की विशेष शक्ति है ।

१०. चेतना जीवन को प्रकट करने वाला गुण है । यह परमात्मा द्वारा दिये प्राण के कारण है । अथर्ववेद में कहा है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

अथर्व० ११-४-१।

अर्थात् प्राण सब प्राणियों का स्वामी है और उसमें प्रतिष्ठित है । यही चेतना का कारण परमात्मा कहा है ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

(एकादश) रुद्रों में शंकर, यक्ष और राक्षसों में कुबेर, वसुओं में अग्नि, पर्वतों में मेरु पर्वत मैं हूँ ।[११]

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोहितों में मुख्य पुरोहित बृहस्पति मुझको जान और सेनानियों में मुख्य स्कन्द तथा जलाशयों में सागर मैं ही हूँ ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

महर्षियों में भृगु, वाणी में एक अक्षर ओंकार, यज्ञ में जप यज्ञ, स्थावरों में (पर्वतों में) हिमाचल, वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवऋषियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और मुनियों में कपिल मैं हूँ । (ये सब विभूतियाँ परमात्मा की हैं ।)

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अश्वों में जो अमृत मंथन के समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रव, हाथियों में ऐरावत, नरों में राजा, युद्ध के अस्त्र-शस्त्र में वज्र, गाओं में कामधेनु, सन्तान उत्पन्न करने में काम, सर्पों में वसु मेरी विभूति से युक्त हैं ।

---

११. वसु का अर्थ है वे पदार्थ जो यज्ञ रूप संसार में हैं । इनमें अग्नि सबसे अधिक विभूतियुक्त वसु है ।

अपनी-अपनी श्रेणी में सबसे अधिक गुणशील पदार्थ में परमात्मा की विशेष शक्ति है, ऐसा यहाँ वर्णन किया है ।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि इन पदार्थों में विभूति परमात्मा की मानी है । ये पदार्थ स्वयं परमात्मा नहीं हैं ।

सब पदार्थों का संगठन और सब प्राणियों में कार्य-शक्ति तो परमात्मा की

नागों में अनन्त नाग, जलचर में वरुण, पितरों में अर्यमा, नियंत्रण रखने वालों में यम मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करने वालों में काल, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड़ हूँ। पवित्र करने वालों में पवन, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगरमच्छ और नदियों में गंगा मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

रचना-कार्य का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ, विद्याओं में अध्यात्म विद्या, तत्त्व निर्णय के लिये किया जाने वाला विवाद मैं हूँ।

अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व, न समाप्त होने वाला काल, सब दिशाओं में देखने वाला और धारण करने वाला मैं ही हूँ।

सब (कष्टों) का नाश करने वाली मृत्यु, तथा भविष्य में होने वालों की उत्पत्ति में कारण मैं हूँ तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, धृति और क्षमा मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

सामों (गायण करने योग्य श्रुतियों) में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं ही हूँ।

ही है और वह शक्ति उन पदार्थों में बहुत अधिक होती है, इसी कारण वे पदार्थ अथवा प्राणी विशेष विभूतियुक्त दिखाई देने लगते हैं।

छल करने वालों में जूआ, ओजस्वियों में तेज और विजय, सात्विक पुरुषों में सात्त्विक भाव-निश्चय करने वालों में मैं (परमात्मा) ही हूँ।

वृष्णि-वंश वालों में कृष्ण, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों में उशना (शुक्राचार्य) मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८।

नियंत्रण रखने वालों का दण्ड, जीतने की इच्छा करने वालों में नीति, रहस्यमयी बातों में मौन और ज्ञानियों में ज्ञान, मैं हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

और हे अर्जुन! सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं ही हूँ। चर-अचर कोई भी पदार्थ नहीं है जो मेरी विभूति के बिना हो।

हे अर्जुन! मेरी (परमात्मा की) विभूतियों का अन्त नहीं है। यह जो यहाँ कहा गया है, संक्षेप में आशय प्रकट करने के लिये कहा है।

जो जो भी विभूति-युक्त, कान्तियुक्त, शक्तिशाली है, उन सबको मुझसे (परमात्मा की विभूति से) युक्त ही समझना चाहिये। वे मेरे (परमात्मा के) तेज से ही बने हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन! बहुत क्या बताया जाये, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश मात्र से मैं धारण किये हुए हूँ।

---

१२. यहाँ अच्छे-बुरे कुछ विभूतियुक्त (विशेष सामर्थ्यवान्) पदार्थों का उल्लेख किया है और कहा है कि उन सब में विभूति परमात्मा की है। असुरों में शुक्राचार्य इत्यादि का उल्लेख है। इनमें भी शक्ति परमात्मा की ही माननी चाहिये।

ब्रह्मसूत्र १-३-१८ में बताया है कि परमात्मा की प्राण-शक्ति जीवात्मा को मिली हुई है और जीवात्मा अपनी रुचि से उसका प्रयोग करता है और फिर उसके अनुरूप ही फल पाता है।

विभूति का अर्थ है अमानवीय सामर्थ्य।

एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।१।।
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।२।।

अर्जुन ने कहा—

आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म नाम वाला उपदेश अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक मुझे दिया है, उससे मेरा मोह (अज्ञान) नष्ट हो गया है ।[1]

हे कमल नेत्र (श्रीकृष्ण) ! आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक सुना है तथा परमात्मा का अविनाशी होना भी सुना है ।[2]

---

१. इस कथन का आशय यह है कि जो कुछ इस अध्याय में कहा जाने वाला है, वह दशम अध्याय के विषय में ही है । अर्जुन कहता है कि जो गोपनीय बात आपने बतायी है, उसे वह समझ गया है और उसका अज्ञान नष्ट हो गया है ।

भगवद्गीता का प्रवचन, महाभारत के लेखक के अनुसार, अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित करना था । अर्जुन समझ रहा था कि कौरव उसके सगे-सम्बन्धी हैं। इनको मारकर वह अपना कल्याण नहीं करेगा ।

कृष्ण ने इस मिथ्या दृष्टि को दूर करने के लिये यह बताया था कि शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। शरीर तो नाशवान् है और जीवात्मा अविनाशी है।

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने बताया कि शरीर कहाँ से उत्पन्न हुआ है। प्रकृति से पंच महाभूत बने और उनसे ही शरीर बना है। परमाणुओं को संयुक्त कर पंच महाभूत और फिर शरीर परमात्मा की शक्ति से ही बने हैं। इस कारण यह शरीर नष्ट होने वाला है ।

यह सब रहस्य गीता के सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें अध्याय में समझाया गया है।

२. गीता में प्राणियों की उत्पत्ति का भी वर्णन है। पंचभौतिक शरीर में जीवात्मा तो है ही, परन्तु शरीर कार्य करता है परमात्मा की शक्ति से। जो बहुत सामर्थ्यवान् पुरुष, स्त्री अथवा जड़ पदार्थ इस संसार में दिखाई देते हैं, उनमें परमात्मा की विशेष शक्ति (विभूति) कार्य कर रही होती है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।३।।
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।४।।

हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा कहते हैं, वह वैसा ही है। परन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके (ऐश्वरम्) निर्माण करने वाले रूप को देखना चाहता हूँ ।

हे प्रभो ! यदि मैं आपका वह रूप देख सकता हूं तो हे योगेश्वर ! वह अविनाशी रूप मुझको दिखाइये । उसका दर्शन कराइये ।[3]

---

३. गीता के प्रवक्ता ने जो वर्णन शैली नवें तथा दसवें अध्याय में स्वीकार की थी, उसका दर्शन हमने ऊपर किया है। श्रीकृष्ण योगयुक्त अवस्था में परमात्मा की बात कहते हुए 'मैं', 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। वे वचन श्रीकृष्ण की ओर से नहीं थे । यह ऐसे ही है जैसे कोई पुत्र अपने पिता के वचन किसी अन्य के सामने कहता हुआ पिता के लिये 'मैं' 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करे ।

परन्तु महाभारत का लेखक अर्जुन को मोटी बुद्धि वाला प्रकट कर रहा है। श्रीकृष्ण के इस प्रकार शब्दों के प्रयोग से अर्जुन, कृष्ण को ही परमात्मा मानने लगा था । वह कहता है कि हे कृष्ण ! आप अपने को जैसा कह रहे हैं, मैं समझ गया हूँ । अब आप अपना वह रूप दिखाइये, जिससे आप इस जगत् की रचना कर रहे हैं।

कृष्ण ने इसे वह रूप दिखाया । यह रूप वैसा ही था जैसा परमात्मा का विराट् रूप वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित है । वेद मंत्र है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।
(ऋ० १०-९०-१)

अर्थात् उसके (परमात्मा के) हजारों सिर, हजारों आँखें हैं, हजारों पाँव हैं और वह सब को उत्पन्न करने वाला तथा शरीर और इन्द्रियों से परे है।

इसी विराट् रूप का दर्शन कृष्ण ने अर्जुन को करा दिया ।

परन्तु इससे भी भ्रम दूर नहीं हुआ । उसकी संशय बुद्धि बनी रही।

इस संशय बुद्धि का किस प्रकार निवारण किया गया, यह आगे चल कर देखेंगे ।

श्रीकृष्ण उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

हे अर्जुन ! मेरे सैकड़ों तथा सहस्रों नाना प्रकार, नाना रूप-रंग वाले दिव्य रूपों को देख ।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे अर्जुन ! आदित्यों (अदिति के पुत्रों) और वसुओं, रुद्रों तथा दोनों अश्विनियों को देख। मेरे (परमात्मा के) बहुत से आश्चर्यकारक रूपों को, जो तूने पहले कभी नहीं देखे, देख ।[4]

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश (अर्जुन) ! इस मेरे (परमात्मा के) शरीर में एक स्थान पर स्थित चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देख और भी जो कुछ देखना चाहता है देख ।[5]

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

इन प्राकृतिक नेत्रों से तू मुझ (परमात्मा) को नहीं देख सकेगा । इस कारण मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ, जिनसे तू मेरी योग-शक्ति को देख सकेगा ।

---

४. आदित्यों, वसुओं, मरुतों इत्यादि को भी परमात्मा से निर्मित कहा है । यहाँ उनके शरीरों से अभिप्राय है । कारण यह कि इन शरीरों से ही आदित्य इत्यादि जाने जाते थे। शरीर पंच भौतिक होने से परमात्मा के बनाये हैं। पंच भूत परमात्मा की शक्ति से ही निर्मित होते हैं ।

प्रत्येक पंच भौतिक पदार्थ परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होने के उपरान्त बनता है ।

५. परमात्मा के शरीर से अभिप्राय है—यह संसार। इस संसार में परमात्मा व्याप्त है। जगत् जो चलता-फिरता आकाश में दिखाई देता है, वह तो उस संसार का एक बहुत छोटा सा अंश है। इसी कारण कहा है कि जगत् परमात्मा के एक बहुत छोटे से कोने में विद्यमान है ।

व्योम (space) के अन्त तक परमात्मा स्थित है और व्योम के अन्त का पता नहीं ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने (महाराज धृतराष्ट्र को) कहा, महायोगी हरि (श्रीकृष्ण) ने ऐसा कहकर परम ऐश्वर्य-युक्त दिव्य रूप अर्जुन को दिखाया ।[6]

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अनेक मुख और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनों वाले एवं बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए;

दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध का लेपन किये हुए सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त सीमारहित विराट् स्वरूप (अर्जुन ने देखा) ।[7]

---

६. भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय के वर्णन पर ध्यान देना चाहिए। इस अध्याय के श्लोक एक से चार तक अर्जुन का कथन कहते हैं। दसवें अध्याय में गीता के प्रवक्ता ने श्रीकृष्ण के मुख से परमात्मा की विभूतियों का वर्णन किया है और कहा है कि संसार की सब विभूतियुक्त पदार्थों में उसका ही सामर्थ्य कार्य करता है। इस पर अर्जुन ने यह इच्छा व्यक्त की कि श्रीकृष्ण परमात्मा का वह स्वरूप उसे दिखाये जिससे वह विभूति-युक्त पदार्थों में बैठा हुआ कार्य कर रहा है।

कृष्ण ने यह तो कहा कि इन पार्थिव नेत्रों से वह परमात्मा के उस स्वरूप का दशन नहीं कर सकता। इस कारण उसे दिव्य दृष्टि दी जाती है।

यह दिव्य दृष्टि क्या है ? विचारणीय है। इस दृष्टि का तो वर्णन नहीं किया गया, परन्तु जो कुछ उससे अर्जुन ने देखा, उसका वर्णन कर दिया है और फिर अर्जुन के अपने मुख से वर्णन करा दिया है।

यह कुछ इस प्रकार है जैसे एक सम्मोहित हुआ (hypnotised) व्यक्ति वह कुछ, जो वस्तुस्थिति नहीं है, देखने लगता है ।

यह स्पष्ट है कि यह जो कुछ देखा गया था, वह वास्तविक नहीं था।

७. मोटी बुद्धि के मनुष्य परमात्मा को इन आँखों से देखने का यत्न करते हैं। यही अर्जुन ने चाहा था (भ० गी० ११-४)।

श्री कृष्ण ने कहा—संसार में जो दिव्य पदार्थ एवं व्यक्ति हैं, वे परमात्मा के ही स्वरूप हैं ।

हमने बताया है कि प्राण परमात्मा की शक्ति है। इसका न्यूनाधिक अंश

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।१२।।

सहस्रों सूर्यों के एकदम उदय होने से जो प्रकाश उत्पन्न होता है, वह ही कदाचित् उस विश्व रूप परमात्मा के सदृश आसीन हो सके (अर्थात् वह भी उससे कम ही होना है) ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए, देवताओं के देव परमात्मा को एक स्थान पर श्री कृष्ण के शरीर में स्थित देखा ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

तदनन्तर अर्जुन, जिसका रोम-रोम हर्षित हो उठा था, आश्चर्य से युक्त परमात्मा के इस विश्व रूप को हाथ जोड़, शीश झुका प्रणाम कर कहने लगा ।

सब प्राणियों को उनके कर्मफल के अनुसार मिलता है। जो विशेष प्राणवान् व्यक्ति हुए हैं, वे परमात्मा के प्राण का स्वरूप ही हैं।

अदिति के पुत्र वसु, रुद्र, अश्विनी कुमार, मरुद्गण और संसार के सब आश्चर्यमय पदार्थों में परमात्मा का स्वरूप ही है ।

श्रीकृष्ण ने कहा—जिस रूप से परमात्मा इन सब दिव्य पदार्थों में विद्यमान है, वह इन पार्थिव नेत्रों से नहीं देखा जा सकता । इस कारण मैं तुम्हें दिव्य चक्षु प्राप्त कराता हूँ । मेरा यह योग बल देखो । (भ० गी० ११-८) ।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो कुछ अर्जुन को दिखाई दिया अथवा जो कुछ संजय ने धृतराष्ट्र के सम्मुख वर्णन किया, वह वास्तविक नहीं था । किसी विशेष प्रयोजन से कृष्ण ने अर्जुन को अपनी योगशक्ति से वह रूप दिखाया था ।

ऐसा दिखाने का क्या प्रयोजन हो सकता था ? यह तो महाभारत और गीता पढ़ने वालों के लिये स्पष्ट ही है कि अर्जुन युद्ध से भाग रहा था और कृष्ण उसे भागने से रोक रहा था । इससे कृष्ण को कितनी सफलता मिली, इसका ज्ञान गीता पढ़ने से ही हो जाता है ।

अर्जुन में जो भीरुता उत्पन्न हो गयी थी, वह गीता के पूर्ण प्रवचन से मिट गयी थी । इस मिटाने में इस विराट रूप का कितना हाथ था अथवा स्थिर बुद्धि रखने और सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता के उपदेश का कितना प्रभाव हुआ था, कहना कठिन है । सम्भवतः सब का मिला-जुला प्रभाव ही हुआ था ।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।१५।।

अर्जुन ने कहा—हे देव ! आपके देह में पंच भूतों से बने पदार्थों को, ब्रह्मा, महेश तथा सब ऋषियों को और आकाश में उड़ने वाले दिव्य नक्षत्रादि को मैं देख रहा हूँ ।

जो बात हम यहाँ बता रहे हैं, वह यह है कि यह विराट स्वरूप परमात्मा का सत्य स्वरूप नहीं है। यह कृष्ण ने भी अर्जुन को बता दिया। ऐसा स्वरूप न तो वेदों में कहा है, न इसका दर्शन दान, यज्ञादि कर्मों से हो सकता है । यह योग-बल से ही दिखाया जा सकता है।

अभिप्रायः स्पष्ट था कि जो कुछ कृष्ण ने उस समय अर्जुन को दिखाया, वह अपने योगबल से था ।

इसी प्रकार की, परन्तु इससे बहुत कम अंश में, एक अपनी आँखों से देखी घटना का उल्लेख हम यहाँ कर देना उचित समझते हैं ।

लाहौर में एक हरिश्चन्द्र नाम के 'हिपनौटिस्ट' (सम्मोहनी विद्या के ज्ञाता) रहते थे । एक बार वह लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में आये और मुख्याध्यापक जी से कुछ बातें कर उनके समीप ही मंच पर एक कुर्सी पर बैठ गये । मुख्याध्यापक जी ने श्रेणी को, जिसे उस समय वह पढ़ा रहे थे, कहा, यहाँ एक महान् सामर्थ्यवान् व्यक्ति बाबू हरिश्चन्द्र आये हैं और यह आपको आज अपनी शक्ति का एक नमूना दिखायेंगे ।

उस समय लेखक भी विद्यार्थी के रूप में उपस्थित था । हरिश्चन्द्र का नाम उसने सम्मोहिनी विद्या के ज्ञाता के रूप में सुना हुआ था । एक बार आर्यसमाज में उनके विषय में श्री प्रो० दीवानचन्द ने अपने व्याख्यान में उल्लेखकर यह बताया था कि यदि सम्मोहित किया जाने वाला व्यक्ति दृढ़ संकल्प हो तो वह सम्मोहित होने से बच भी सकता है ।

इस कारण लेखक ने अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह इस मोह-जाल में नहीं फंसेगा और अपने होश-हवास में रहेगा । उसने यत्न किया और उसकी आँखें अपनी आँखों से नहीं मिलने दीं ।

एकाएक हरिश्चन्द्र बोला, 'यह देखो !' इस समय बरबस सबकी दृष्टि उसकी ओर गयी । अब मंच पर एक अपनी श्रेणी का सामान्य योग्यता का विद्यार्थी सदानन्द भी खड़ा था ।

हरिश्चन्द्र ने सदानन्द की ओर संकेत कर कहा, 'यह हमें ग्रामर में 'सिन्टैक्स' पर एक पाठ पढ़ायेंगे ।'

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

मैं देख रहा हूँ—पूर्ण विश्व के स्वामी को जो अनेक हाथ, पेट, मुख तथा नेत्रों वाला है। वह सब ओर से अनन्त रूपों वाला है। उसका न आदि है, न अन्त है। न ही उसका मध्य है।

सब लड़के शान्त हो सुनने लगे थे। लड़का सिन्टैक्स के विषय में बताने लगा। वह एक वाक्य को बोलकर उसका विश्लेषण करने लगा।

लगभग पाँच मिनट तक सदानन्द बोलता रहा। कुछ बोर्ड पर भी लिखता रहा। एक बात थी कि सदानन्द के बोलने का ढंग वही था जो मुख्याध्यापक जी का था। सब लड़के और मुख्याध्यापक भी मौन उसको पाँच मिनट तक सुनते रहे।

ज्यों ही सदानन्द अपनी सीट पर बैठा, सब के सिर लुढ़क गये अर्थात् सब अचेत हो गये।

लेखक तथा एक अन्य विद्यार्थी मेघराज, दोनों मुख देखते रहे थे, परन्तु अचेत नहीं हुए थे। कुछ ही क्षण में सब सचेत हो गये। तब हरिश्चन्द्र ने पूछा, "क्यों लड़को? क्या समझे हो?" मेघराज अपने स्थान पर उठ खड़ा हुआ।

इस पर हरिश्चन्द्र जी ने पूछा, "हाँ! क्या सुना है?"

मेघराज ने कहा, "यह सदानन्द कुछ अशुद्ध बात कह रहा था। न तो ऐसा ग्रामर की पुस्तक में लिखा है, न ही हैडमास्टर साहब ने कभी हमें ऐसे पढ़ाया है।"

हरिश्चन्द्र ने कहा, "बैठ जाओ!" उन्होंने मुख्याध्यापक जी से कुछ पूछा और फिर बोले, "आपकी श्रेणी के मोनटिर चन्दू लाल से पूछता हूँ।"

चन्दूलाल श्रेणी में सबसे योग्य लड़का था। उसने बताया, "सदानन्द तो यहाँ कोई था नहीं। हैडमास्टर साहब ने ही कम्पौण्ड सैण्टेन्सिस में एडवर्ब-कन्जूगेट के विषय में बताया है।"

मेघराज पुनः खड़ा हुआ, परन्तु हरिश्चन्द्र जी ने उसे बैठा दिया और मुख्याध्यापक जी से कहा, "आप बताइये।"

मुख्याध्यापकजी ने कहा, "पाठ तो मैंने ही दिया था।"

तदनन्तर हरिश्चन्द्रजी हँस पड़े और बोले, "आप सब हिप्नोटाईज्ड थे। जो वास्तविक बात है, कोई नहीं जानता।"

यह है श्रीकृष्ण द्वारा दर्शाये योग की एक बहुत ही छोटी सी नकल। योग-बल से सम्मोहित व्यक्ति वही कुछ देखने अथवा सुनने लगता है जो योगी उसे दिखाना अथवा उसे कहना चाहता है। यही श्रीकृष्ण ने किया था।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुट, गदा, चक्र और सब ओर से प्रकाशमान तेज से युक्त, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश, देखने में अति गहन और अप्रमेय रूप को मैं देखता हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

हे देव! आप (परमात्मा) जानने योग्य, परम (अति सूक्ष्म) और अक्षर हैं। आप इस जगत् का आश्रय और अनादि धर्म के रक्षक हैं। आप अविनाशी और सनातन पुरुष हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आपका (परमात्मा का) न आदि है, न अन्त है और वह मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त बाहों—चाँद-सूर्य रूप नेत्रों वाला, प्रदीप्त अग्नि-युक्त मुख वाला, अपने तेज से जगत् को तपायमान करता है। ऐसे आपके रूप को मैं देख रहा हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन्! आप महान् हैं। अन्तरिक्ष और पृथिवी तथा बीच वाले स्थान में, सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस आलौकिक और उग्र स्वरूप को देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे देवताओं के समूह (सूर्य-चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि) आपमें प्रवेश कर रहे हैं। कई एक भयभीत होकर गिड़-गिड़ा रहे हैं। महर्षि और सिद्ध समुदाय 'स्वस्तिस्वस्ति' कह कर आपकी स्तुति कर रहे हैं।

महाभारत में श्रीकृष्ण की इसी योग शक्ति का एक अन्य अवसर पर भी दर्शन कराया गया है। जब कृष्ण संधि करने की प्रेरणा देने हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र की राज्य सभा में गये थे, तब दुर्योधन ने उन्हें बन्दी बनाने का यत्न किया था। उस समय श्री कृष्ण अपने योग बल से सबको सम्मोहित कर सभा भवन से निकल गये थे।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्व-देवता, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण, वे सब विस्मित हुए आपके इस विराट रूप को देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो ! आपके बहुत से मुख तथा नेत्रों वाले, हाथ, जंघों, पैरों, उदर, दाढ़ों वाले रूप को देख कर, सब लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी अत्यन्त व्याकुल हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णो (परमात्मा) ! आपके अनेक रूप जो आकाश को स्पर्श कर रहे हैं, आपकी आँखें जो फैली हुई तथा चमक रही हैं, को देखकर मेरा धीरज तथा मेरी शान्ति छूट रही है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

हे विकराल दाढ़ों वाले, प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्ज्वलित मुखों को देख कर दिशाओं को न जानता हुआ, मैं सुखी नहीं हो रहा। इस कारण हे जगत् में व्याप्त देव ! आप (क्रोध छोड़ें) प्रसन्न हो जायें।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

सब राजाओं के समूह सहित धृतराष्ट्र के पुत्र तथा हमारे प्रमुख सैनिक, भीष्म, द्रोण, सूत-पुत्र कर्ण इत्यादि सब (आप परमात्मा में प्रवेश कर रहे हैं)।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

सब बहुत वेग से आपके विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुख में प्रवेश कर रहे हैं। कईयों के सिर चूर्ण हुए आपके दातों के बीच में लगे दिखाई दे रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियाँ दौड़ती हुई समुद्र में समा जाती हैं, वैसे ही ये शूरवीरों के समुदाय आपके प्रज्ज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे पतंगे नष्ट होने के लिये जल रही अग्नि में वेग से कूद पड़ते हैं, वैसे ही ये सब लोक नाश होने के लिये आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

हे विष्णो ! अपने जल रहे मुखों में सब लोकों को ग्रास बनाते हुए आप इनको चाट रहे हैं और सम्पूर्ण जगत् को अपने तेज के द्वारा तपा रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

(हे प्रभो !) मुझे बताइये कि यह उग्र (भयंकर रूप वाले) आप कौन हैं ? हे देवों में श्रेष्ठ ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप प्रसन्न होइये ! मैं आप के मूल स्वरूप को तत्त्व से जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपके स्वभाव को नहीं जानता।

श्रीकृष्ण उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः ॥३२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—लोकों (पृथिव्यादि नक्षत्रों) का नाश करने के लिए मैं (परमात्मा) महाकाल हूँ। मैं इन लोकों को, जो बने हुए हैं, नष्ट करने में लगा हुआ हूँ। ये जो योद्धा सेना के साथ आये हुए हैं, वे सब नहीं रहेंगे। भले ही तू युद्ध न कर। अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी ये नष्ट होने वाले हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इससे उठ और यश को प्राप्त कर। शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य सम्पन्न राज्य का भोग कर। यह सब पहले से ही मेरे (परमात्मा के) द्वारा मारे जा चुके हैं। हे सव्यसाची (अर्जुन)! तू तो केवल निमित्त मात्र ही है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणाचार्य, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य बहुत से (पहले ही) मेरे द्वारा मारे गये शूरवीर योद्धाओं को तू रण में मार और भय मत कर। तू निःसंदेह युद्ध में वैरियों को जीतेगा। इसलिये युद्ध कर।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय ने कहा—

कृष्ण के इन वचनों को सुन मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़, काँपता हुआ नमस्कार करके गद्गद् प्रसन्न हो कृष्ण से इस प्रकार कहने लगा—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन ने कहा—

हे अन्तर्यामी परमात्मा! आपका कीर्तन (बार-बार स्मरण) करने से सब लोग अति प्रसन्न होते हैं और आपसे अनुराग पाते हैं। भयभीत हुए राक्षस लोग चारों ओर भागते हैं और सब सिद्धगण (योग्य व्यक्ति) आपको नमस्कार करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् (परमात्मा)! ये सिद्ध लोग, अपने से बड़े आदिकर्त्ता ब्रह्मा से भी पहले के आपको नमस्कार क्यों न करें? हे अनन्त देव! हे जगत् में निवास करने वाले, सत्-असत् (प्रकृति) के दोनों रूपों और उनसे परे (सूक्ष्म) अक्षर आप ही हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदि देव (अनादि दिव्य गुण युक्त) सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत् के परमाश्रय हैं और जानने योग्य हैं। परम धाम अनन्त रूप आपसे यह जगत् व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजा के पालन करने वाले और प्रजा के पितामह (ब्रह्मा के पिता) हैं। इस कारण आपको हमारा सहस्रों बार तथा बार-बार नमस्कार हो।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे अनन्त सामर्थ्य वाले (परमात्मा)! आपके लिए आगे से और पीछे से भी नमस्कार होवे। आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार होवे। आप अनन्त पराक्रमी हैं और सबको व्याप्त किये हुए हैं। आप सबके स्वामी हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

हे कृष्ण! हे यादव! मैं आपको केवल मात्र अपना सखा मानता था। आपने यह जो विराट् रूप दिखाया है, इस अद्भुत कर्म को देखकर मैं कहता हूँ कि आपकी इस अद्भुत शक्ति को न जानते हुए, मैंने हठपूर्वक जो कुछ कहा है,

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

हे अच्युत (कृष्ण)! जो कभी हँसी में, खेल-कूद के समय, भोजन तथा शयन के समय अकेले में अथवा मित्रों में कोई अपमान की बात मुख से कही गयी है, मैं उसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

(जिसका विराट स्वरूप देखा है) आप चराचर जगत् के पिता (उत्पन्न करने वाले) हैं; गुरुओं के भी गुरु, अति पूजनीय, अति प्रभावशाली हैं। तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं, आपसे अधिक किसी का क्या कहना।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इस कारण मैं आपके (परमात्मा के) चरणों में प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! जैसे पिता पुत्र को, सखा मित्र को, पति जैसे प्रिय पत्नी को सुहन करता है, वैसे ही मेरे अपराध सहन (क्षमा) करने योग्य हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

हे कृष्ण ! आपका पहले यह रूप नहीं देखा था। इसे देखकर मैं अति हर्षित हो रहा हूँ। मेरा मन भय से अति व्याकुल हो रहा है। इसलिये हे देव ! आप प्रसन्न होइये और अपने उस रूप को मुझे दिखाइये जो जगत् में व्याप्त सबको प्रसन्न करने वाला है।

किरीटिनं गदिन चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

आपको मैं वैसे ही मुकुट, गदा तथा चक्र धारण किये, देखने की इच्छा रखता हूँ। इस कारण हे विराट रूप वाले परमात्मा ! उस चतुर्भुज रूप को धारण करिए।

श्रीकृष्ण उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्री कृष्ण ने कहा—

हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्नतापूर्वक यह परमात्मा का तेजोमय, सब का आदि सीमारहित विराट् रूप अपनी योगशक्ति से दिखाया है, जो तुमसे पहले किसी ने नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरु प्रवीर ! मनुष्य लोक में इस प्रकार का विराट् स्वरूप (परमात्मा का दर्शन) न तो वेद पढ़ने से, न यज्ञों के करने से, न ही दान आदि क्रियाओं से, न ही उग्र तपस्या से देखा जा सकता है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

इस प्रकार परमात्मा के इस भयानक रूप को देखकर तुम्हें भय न लगे और मूढ़ भाव भी न होवे, ऐसा जानकर तू परमात्मा का वही रूप (प्रेममय रूप) पुनः देख।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा—

महात्मा वासुदेव ने अर्जुन को इस प्रकार कहकर पुनः वैसा ही अपना चतुर्भुज स्वरूप दिखाया और सौम्य दर्शन देकर अर्जुन को शान्त किया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! आपके (द्वारा दिखाये) इस अतिशान्त मनुष्य समान रूप को देखकर अब मैं शान्तचित होकर अपनी स्वभाविक मनःस्थिति को पहुँच गया हूँ।

श्रीकृष्ण उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

मेरा यह (परमात्मा का) रूप जो तुमने देखा है, देखने को अति दुर्लभ है, क्योंकि देवता भी सदा इस रूप को देखने की इच्छा किया करते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

और हे अर्जुन ! न ज्ञान से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार के रूप में देखे जाने को मैं शक्य हूँ, जैसा तुमने देखा है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

हे श्रेष्ठ तप वाले अर्जुन ! तुम्हारी जैसी अनन्य भक्ति के कारण ही इस प्रकार का रूप देखा जा सकता है तथा मेरे में प्रवेश किया जा सकता है अर्थात् मुझे तत्त्व से जाना जा सकता है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।५५।।

हे अर्जुन ! जो पुरुष परमात्मा के निमित्त ही सब कर्म करता है, जो उसी के परायण (अधीन) और उसका भक्त है तथा आसक्तिरहित होकर, सब भूतों में वैर भाव न रखकर व्यवहार करता है, वह परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

द्वादश अध्याय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।१।।

अर्जुन ने कहा—

इस प्रकार से जो भक्तजन आपकी (परमात्मा की) ध्यान लगाकर श्रेष्ठ भाव से उपासना करते हैं और जो निराकार की ही उपासना करते हैं, इन दोनों में कौन उत्तम योगी है ?[1]

---

१. इस श्लोक में भक्त तथा उपासना इन दो शब्दों के अर्थ समझने की आवश्यकता है। भक्त का अर्थ है, जो किसी पर विश्वास तथा भरोसा रखे। ऐसी भावना को भक्ति करना कहते हैं। परमात्मा का भक्त का अभिप्राय है जो परमात्मा पर विश्वास रखता है।

विश्वास के दो अर्थ हैं। प्रथम है परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास रखना। दूसरे, समय-कुसमय उसकी सहायता पाने पर विश्वास रखना। अतः यह ध्यान रखना चाहिये कि भक्त शब्द का सम्बन्ध उपासना अथवा पूजा-पाठ से नहीं है।

दूसरा शब्द है उपासना। उपासना=उप+आसना—समीप बैठने की क्रिया। परमात्मा के समीप बैठने की क्रिया है परमात्मा के गुण-कर्म को देखना और समझना। वैसे तो परमात्मा सब स्थान पर व्यापक होने से, मनुष्य सदैव उसके समीप रहता है। परन्तु चित्त (मन और बुद्धि) से उसके गुण, कर्म को देखना अर्थात् समझना उपासना कहाता है।

अतः उपासना का अर्थ है परमात्मा के गुण और कर्म को जानना और समझना। समझने के लिये चिन्तन की आवश्यकता रहती है। चिन्तन के लिये चित्त की एकाग्रता होनी चाहिये।

कई लोग ऐसी एकाग्रता प्राप्त करने को ही भक्ति कहते हैं। परन्तु इसे भक्ति नहीं कहा जा सकता। भक्ति तो केवल परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास तथा उसके सहायक होने पर विश्वास को कहते हैं। चिन्तन का सम्बन्ध योग से है। योग है चित्त को एक ही कार्य में लीन कर देना।

अतएव ऊपर के श्लोक में अर्जुन यह पूछता है कि कैसे स्वरूप के चिन्तन करने से वह भलीभाँति योगयुक्त होगा ? उस स्वरूप के चिन्तन करने से जो

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।

जिससे कोई जीव रुष्ट नहीं होता और जो स्वयं भी किसी से रुष्ट नहीं होता और जो न तो प्रसन्न होता है, न ही किसी से रुष्ट होता है, जो वेगों (काम-क्रोधादि) से रहित होता है, वह भक्त मेरे को (परमात्मा को) प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।

जो परमात्मा का भक्त किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता (अर्थात्

हमने बताया है कि उपासना का अर्थ है समीप बैठना। परमात्मा के समीप बैठने का अर्थ वही होता है जैसे किसी महापुरुष की संगत में रहकर उसके सद्-गुणों को अपने में धारण करना होता है।

भक्ति का अर्थ है परमात्मा पर श्रद्धा और विश्वास। श्रद्धा और विश्वास इस बात का होना चाहिये कि वह न्यायकर्ता है। इस कारण यदि मनुष्य शुभ गुणों से युक्त हो तो वह उचित फल पायेगा। परमात्मा से अन्याय की आशा न रखना ही, उसमें श्रद्धा और भक्ति रखना है।

पूजा का अर्थ है उसके गुणों का बार-बार स्मरण करना, जिससे उसके श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण किया जा सके।

परमात्मा के श्रेष्ठ गुण क्या हैं, वह श्रीकृष्ण बता चुके हैं। संक्षेप में वे हैं, सबके साथ समभाव रखना; न प्रसन्नता में पागल हो जाना, न शोक में दुःख अनुभव करना, अच्छे-बुरे सबके साथ समान रूप में न्याय करना, किसी से मोह अथवा द्वेष न करना इत्यादि। ये गुण परमात्मा के हैं। इनको अपने में स्वीकार करना ही परमात्मा की उपासना, भक्ति और पूजा है।

अतः, श्रीकृष्ण का आशय है कि कोई स्वरूप, चाहे वह परमात्मा का है, चाहे वह योगबल से दर्शाया गया है, भ्रम है। उसके चिन्तन की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है अपने मन, बुद्धि और जीवात्मा को श्रेष्ठ गुणयुक्त बनाने की। उससे ही परमात्मा का प्रिय बना जा सकता है।

इन गुणों को प्राप्त करने के उपाय बताये हैं। परमात्मा के इन गुणों का चिन्तन उसके चतुर्भुज अथवा अधिक भुजाओं वाले स्वरूप का चिन्तन नहीं है। न ही परमात्मा के अति भयानक विश्वरूप के चिन्तन से श्रेष्ठ गुणों का सम्बन्ध है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि श्रीकृष्ण जो 'मैं', 'मेरा', 'मेरे' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं, वे परमात्मा के लिये ही हैं। श्रीकृष्ण ने गीता का प्रवचन योगयुक्त होकर कहा था। योगावस्था में प्राणी परमात्मा में स्थित हो उसकी ओर से ही कह रहा अनुभव करता है।

आकांक्षाएं नहीं रखता), मन, वचन, कर्म से शुद्ध अपने जीवन कार्य में योग्य, सबसे उदासीन (पक्षपात रहित) जि [illegible] व्यथा, (पीड़ा) नहीं अनुभव होती और आरम्भों (कामनाओं) को छोड़ चुका है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१७।।

जो न तो कभी प्रसन्नता से उत्तेजित होता है, न ही किसी से द्वेष रखता है, जो न किसी बिगड़े काम पर शोक करता है, न ही किसी प्रकार की कामना करता है, जो शुभ और अशुभ कर्मफलों को त्याग देता है (इच्छा नहीं करता), ऐसा युक्तियुक्त पुरुष मुझ (परमात्मा) को प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१९।।
ते तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।२०।।

जो शत्रु-मित्र को समान देखता है, मान अपमान में समभाव रहता है, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख में एक समान रहता है और संसार में आसक्त नहीं होता;

और जो निन्दा-स्तुति को समान समझता है, जो मननशील है, जिस किसी प्रकार भी निर्वाह हो, उसमें संतुष्ट रहता है तथा रहने के स्थान से मोह करने वाला नहीं है, ऐसा भक्त मुझको प्रिय है।

और जो मेरे परायण हुआ, श्रद्धा से युक्त व्यक्ति इस ऊपर कहे धर्मभाव अमृत का निष्काम भाव से सेवन करता है, वह मेरा (परमात्मा का, भक्त मुझ (परमात्मा) को अति प्रिय है।

श्रीकृष्ण उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

मन को एकाग्र करके मेरे (परमात्मा) में जो निरन्तर युक्त हैं, ऐसे लोग अतिशय श्रद्धा से भक्त हो जाते हैं। वह मेरे को उपासते हैं (मेरे समीप बैठते हैं, अर्थात् मेरे गुण कर्म को जानते हैं)। ऐसे योगियों को उत्तम योगी माना जाता है। ऐसा मेरा (श्रीकृष्ण का) मत है।[2]

एकादश अध्याय में दिखाया है अथवा परमात्मा के अव्यक्त रूप का चिन्तन करने से ?

एकादश अध्याय में दो स्वरूपों का वर्णन किया गया है। एक तो विश्व रूप अर्थात् विराट् रूप है और दूसरे को चतुर्भुज, सौम्यरूप कहा है।

यह अध्याय यह बताने के लिये है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों में चिन्तन करने से अथवा अव्यक्त का चिन्तन करने से योगयुक्त हुआ जा सकता है ?

अर्जुन पर कृष्ण की योग शक्ति का प्रबल प्रभाव हुआ था और वह समझने लगा था कि जो स्वरूप उसने देखा है, वह वास्तविक है।

२. अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में कृष्ण ने सुगुण-निर्गुण का झगड़ा खड़ा नहीं किया। इस श्लोक में यही कहा है कि परमात्मा से योगयुक्त वह होता है, जो एकाग्र चित्त से उसकी उपासना (समीप बैठ उसका अध्ययन) करता है। वही श्रेष्ठ योगयुक्त व्यक्ति है।

श्लोक १२-१ में कहा है —'ये अपि अक्षरम् अव्यक्तम्' जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करता है। वहाँ दो प्रकार के स्वरूपों की उपासना की तुलना की गयी है।

इसमें भी सुगुण-निर्गुण का विवाद नहीं है। इस स्थान पर हम एक बात को स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि परमात्मा निर्गुण नहीं है। यह गुणयुक्त है, परन्तु इसके वे गुण नहीं जो प्रक्रित के हैं। प्रकृति के गुण हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। ये गुण परमात्मा में नहीं हैं। इस कारण इन गुणों को लक्ष्य मान कर परमात्मा को सगुण अथवा उसके रूप को सगुण कहना अनभिज्ञता की पराकाष्ठा है। परमात्मा और प्रकृति में स्पष्ट रूप में अन्तर है। यह गीता के अगले अध्याय में बताया है। जब दोनों में अन्तर है तो फिर एक के गुण दूसरे में कैसे हो सकते हैं ?

वैसे परमात्मा सगुण है। वेद में इसके गुणों का वर्णन है। एक मंत्र है—

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु० ४०-८)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

और जो व्यक्ति इन्द्रियों के समुदाय को भलीभाँति वश में करके (अचिन्त्यम्) जो चिन्तन नहीं किया जा सकता; सर्वव्यापक और जिसके विषय में कथन नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वरूप वाले विकार-रहित, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी की उपासना करते हैं और जो सब प्राणियों के हितों में रत रहते हैं, सब में समानभाव रखते हैं वे मेरे (परमात्मा) को ही प्राप्त होते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

ऐसे निराकार में चित्त लगाने वाले के मार्ग में विशेष कठिनाइयाँ आती हैं। देहधारी की अपेक्षा अव्यक्त विषय में ध्यान लगाना कठिनाई से सम्भव होता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

परन्तु मेरे (परमात्मा के) परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में (परमात्मा में) अर्पण करके मेरी (परमात्मा की) एकाग्र चित्त से, ध्यान (योग की क्रिया) से चिन्तन करते हैं, वे ही मेरी (परमात्मा की) उपासना करते हैं।[1]

वह (परमात्मा) सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, शरीररहित, विकाररहित, स्नायुमण्डल से रहित, शुद्ध, पाप से अबद्ध, महा विद्वान्, दुष्टों से दूर, स्वयं शाश्वत ज्ञान देने वाला, समान भाव रखने वाला है। ये परमात्मा के गुण ही कहे हैं।

३. श्लोक १२-२ और श्लोक १२-३,४ का किंचित् भी गहराई से अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि दोनों में अन्तर नहीं हैं। गीता के प्रवक्ता ने उन स्वरूपों की उपासना के विषय में कुछ नहीं कहा जो कृष्ण ने अर्जुन को दिखाये थे और जिनका उल्लेख गीता के एकादश अध्याय में है।

किस प्रकार परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है, गीता का प्रवक्ता यह बताना चाहता है।

हमारा निश्चित मत है कि साकार परमात्मा की उपासना गीता में कहीं प्रतिपादित नहीं होती। अव्यक्त की उपासना कठिन होते हुए भी यही एक उपाय बताया गया है जिससे मनुष्य आत्मोन्नति कर सकता है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।८।।

हे अर्जुन! उन मेरे (परमात्मा) में चित्त लगाने वाले भक्तों का मैं (परमात्मा) शीघ्र ही इस मरणशील संसार सागर से उद्धार करता हूं ।

परमात्मा में मन को लगा, अपनी बुद्धि को उसी में स्थिर कर, तब तू मेरे में (परमात्मा में) ही निवास करेगा । इसमें संशय नहीं है ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।९।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।१०।।

यदि चित्त को मुझ(परमात्मा)में स्थित करने में समर्थ नही है तो हे अर्जुन! अभ्यास योग से मुझे प्राप्त करने का यत्न कर ।

(यदि)योग के अभ्यास में भी असमर्थ हो, तो मेरे लिये ही कर्म करने वाला हो, अपने सब कर्मों को मेरे में अर्पण कर । तू मुझे प्राप्त होगा ।[4]

---

४. यहां तीन स्थितियों का वर्णन है । एक है अपनी बुद्धि को परमात्मा में स्थिर कर व्यवहार करना । अभिप्राय है कि प्रत्येक कार्य को बुद्धि से विचार कर करना । इस विषय में पहले भी गीता के प्रवक्ता ने २-४९ में कहा है कि बुद्धि से दूर कर्म अत्यन्त हीन है ।

यदि यह सम्भव न हो अर्थात् बुद्धि काम न करे तो कहा है—कर्म योग; निष्काम भाव से करो अर्थात् कर्म में अपने हित-अहित का विचार छोड़कर कर्म करो ।

यह भी एक कठिन कार्य है । कर्म करते समय कुछ न कुछ स्वार्थ आ ही जाता है । गीता का प्रवक्ता कहता है कि तब तीसरी स्थिति भी है । मनुष्य कर्म करता हुआ अपने को सर्वथा परमात्मा के अधीन कर दे । कर्म करे और फल की इच्छा भी करे, परन्तु फल मिले तो प्रभु कृपा और फल न मिले तो प्रभु की इच्छा माने ।

इन तीनों प्रकार के कर्मयोगियों को अंत में सद्गति मिलती है ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।।

और यदि ऐसा करने में भी असमर्थ है तो फिर मन को दृढ़ कर मेरे (परमात्मा के)आश्रित होकर अपने सब कर्मों को फल के त्याग भाव से (अर्थात् परमात्मा के लिये) ही कर ।[5]

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

(अभ्यास) योगाभ्यास से ज्ञान (प्राप्त करना) श्रेष्ठ है । ज्ञान से ध्यान (चिन्तन) श्रेष्ठ है और चिन्तन से कर्मफलों का त्याग (निष्काम भाव से कर्म करना) श्रेष्ठ है । कर्मफल का त्याग कर कर्म करना परम शान्ति को देने वाला होता है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१३।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१४।।

सब भूतों में द्वेष भाव से रहित होकर, सबसे मित्रता तथा दया का भाव रखकर, ममता से रहित होकर, अहंकार को छोड़कर, सुख-दुःख में समान भाव रखता हुआ, क्षमा के भाव से रहे और निरन्तर ध्यान योग का अभ्यास करता हुआ, सन्तुष्ट मन से मन पर नियंत्रण रखता हुआ, दृढ़ निश्चय से मेरे (परमात्मा के) मन और बुद्धि को अर्पण करता हुआ मेरा (परमात्मा का) जो भक्त है, वह मुझ (परमात्मा) को प्रिय है ।

---

५. अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था कि जो दो स्वरूप उसने अपनी योग शक्ति से दिखाये हैं, क्या उन स्वरूपों का चिन्तन करने से वह परमात्मा का प्रिय होगा अथवा जो अव्यक्त रूप उसने बताया है, उसके चिन्तन से परमात्मा का वह अधिक प्रिय भक्त होगा ?

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा का प्रिय तो किसी भी स्वरूप के चिन्तन से नहीं हो सकता । उसके लिये तो उसे अपने मन, बुद्धि और जीवात्मा को एक विशेष प्रकार का बनाना होगा; तब ही वह परमात्मा का प्रिय होगा ।

उपासना, भक्ति और पूजा का अर्थ किसी स्वरूप का चिन्तन करना नहीं है; वरन् परमात्मा के गुणों का चिन्तन और फिर उन गुणों के चिन्तन से अपने में कुछ वैसे गुण उत्पन्न करना है ।

त्रयोदश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा माना जाता है। इसको जो जानता है, ज्ञानीजन उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं।[1]

---

१. सामान्य रूप में गीता प्रवचन के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में जीवात्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता को बताकर मरने-मारने से भय न करने के लिये कहा गया है। यह २-१२ से २-३८ के श्लोकों का विषय है। हमारा विचार है कि यह प्रवचन युद्ध क्षेत्र में किया गया था। अर्जुन तो इतने मात्र से ही युद्ध के लिये तैयार हो गया था।

द्वितीय अध्याय के शेष श्लोक तथा अगले अध्याय स्थिर बुद्धि प्राप्त करने के विषय में और बुद्धियुक्त कर्म की महिमा बताने के लिये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रवचन युद्धभूमि में नहीं किया गया। यह महर्षि व्यास ने उस समय लिखा था जब महाभारत का संकल्प किया गया। कदाचित् धृतराष्ट्र के व्यास आश्रम में जाकर रहने के समय के उपरान्त और श्रीकृष्ण युधिष्ठिर इत्यादि के निधन के उपरान्त लिखा गया था।

गीता के ७, ८, ९, १०, ११, १२ अध्यायों में परमात्मा और उसकी प्राप्ति के विषय में कहा गया है। बहुत ही सुन्दर और साधारण ज्ञान के भी व्यक्ति की समझ में आने वाली भाषा में इसमें परमात्मा का ज्ञान वर्णित है।

अध्याय १३ से अध्याय १७ तक, पाँच अध्यायों में जीवात्मा, परमात्मा और मनुष्य शरीर के कार्य की विधि बतायी गयी है। उसी कार्य-विधि का यह वर्णन है। इसे ही अध्यात्म कहते हैं।

इस वर्णन को बहुत ही सुन्दर ढंग से आरम्भ किया गया है।

शरीर को कहा है क्षेत्र। क्यों ? इसलिये कि शरीर की सृष्टि ऐसे ही होती है जैसे खेत में साग-भाजी इत्यादि की।

यह बताया है कि जो इस शरीर को जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

शरीर को कौन जानता है? जो इस क्षेत्र से कार्य लेता है। वह जीवात्मा है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे अर्जुन ! मुझ को (परमात्मा को) भी सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान (परस्पर सम्बन्ध) है, वही ज्ञान है। यह मेरा मत है।[2]

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

वह क्षेत्र जो है, जैसा है और जिस कारण से है, साथ ही जो विकार (परिवर्तन) उसमें हो रहे हैं और उसमें क्षेत्रज्ञ क्या उत्पन्न कर रहा है, वह सब तू मुझसे सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

इस क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मतत्वों) के विषय में ऋषियों ने वेदों ने विविध भाँति से समझाया है। (इन्हीं के विषय में) ब्रह्मसूत्रों में पृथक्-पृथक् (शरीर, जीवात्मा और परमात्मा के विषय में) युक्तियुक्त ढंग से (तर्क से) इसका कथन किया है।[3]

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

(इस क्षेत्र में) पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (जीवात्मा) तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

(इन्द्रियों के विषय के अतिरिक्त) इस क्षेत्र में सुख, दुःख, द्वेष, इच्छा, प्रयत्न, चेतना और धृति—संक्षेप में यह क्षेत्र है जो विकारी है।[4]

---

२. इस शरीर में बैठे क्षेत्रज्ञ के अतिरिक्त एक अन्य क्षेत्रज्ञ है। कहा है कि परमात्मा को भी क्षेत्रज्ञ जानो। एक उस क्षेत्रज्ञ, जो शरीर का स्वामी है, के अतिरिक्त परमात्मा क्षेत्रज्ञ में अन्तर भी बताया है। वह यह कि जीवात्मा तो उस क्षेत्र का ज्ञाता है, जिसमें वह बैठा है, परन्तु परमात्मा सब क्षेत्रों में विराजमान है। वह सब प्राणियों के शरीरों के विषय में जानता है।

३. गीता का प्रवक्ता कहता है कि वह ऋषियों का मत, वेद मत और ब्रह्मसूत्र (जिसे वेदान्त दर्शन भी कहते हैं) का मत ही लिख रहा हूँ। सबने पृथक्-पृथक् ढंग से यही बात कही है।

४. श्लोक १३-५ में क्षेत्रज्ञ में एक अव्यक्त पदार्थ भी बताया है। गीता के कई भाष्यकार इसका अर्थ मूल प्रकृति करते हैं। मूल प्रकृति का अभिप्राय है प्रकृति की

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।११।।

(अपनी मान प्रतिष्ठा पर) अभिमान न करना, दम्भ से रहित होना, अहिंसा, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, आचार्यों की संगत, शौच, स्थिर बुद्धि और आत्म संयम;

इन्द्रियों के विषय में असक्तता, अहंकार का अभाव, सदा जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, बीमारी, दुःख और दोषों की ओर (सतर्कता से) देखते रहना ;

पुत्र, स्त्री, गृहादि में मोह न रखना, ममता का अभाव, प्रिय-अप्रिय में चित्त को समान रखना ;

मुझ (परमात्मा) में अनन्य भाव से अव्यभिचारिणी (स्थिर) भक्ति, एकान्त स्थान में रहना (चिन्तन तथा मनन के लिये), मनुष्य की भीड़ से बचना ।

ज्ञान के तत्त्व को जानने के लिये अध्यात्म ज्ञान में स्थित रहना, इस प्रकार जो कहा है, वह ज्ञान है और इससे उलट अज्ञान है ।[५]

साम्यावस्था । हम समझते हैं कि मूल प्रकृति शरीर का अंग है, ऐसा किसी शास्त्र में नहीं कहा गया । इस कारण, यहाँ अव्यक्त से अभिप्राय जीवात्मा है ।

इससे यह स्पष्ट है कि क्षेत्र का अभिप्राय मृत शरीर नहीं, जीवित शरीर है । वही प्राणियों की खेती का कार्य कर सकता है । मृत शरीर अर्थात् शव क्षेत्र नहीं ।

इस कारण जीवित शरीर का एक विशेष अंग है जीवात्मा । और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न और चेतना जीवात्मा के गुण हैं ।

न्यायदर्शन (१-१०) में भी जीवात्मा के यही गुण बताये हैं ।

श्लोक १३-६ में एक शब्द है संघातः । इसका अर्थ है संयोग । हमने इसका अर्थ प्रयत्न किया है । संघात=संयोग करना ।

५. क्षेत्रज्ञ जीवित शरीर में जीवात्मा है । वह क्षेत्र अर्थात् शरीर को जान सकता है । मन बुद्धि साधन हैं जानने के ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१२।।

जो जानने योग्य है तथा जिसे जान कर मनुष्य (सुख-दुःख से) ऊपर हो जाता है, उसे मैं अच्छी प्रकार कहूँगा । वह आदि-रहित, परमब्रह्म न सत् कहा जाता है, न असत् कहा जाता है ।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।

वह सब ओर हाथ पाँव वाला है । उसके सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं । सब ओर क्षेत्र वाला है, क्योंकि वह संसार के सब (पदार्थों) में व्याप्त होकर स्थित है ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

वह सब इन्द्रियों के विषयों को जानता है । इस पर भी इन्द्रियों से रहित है और विषयों में रत नहीं । वह गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से बाहर, परन्तु सब पदार्थों को धारण-पोषण करनेवाला और गुणों को भोगने वाला है ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।

सब भूतों के बाहर और भीतर वह विद्यमान है । उसे चलने वाला और न चलने वाला भी कहा गया है । (यह उसके सर्वव्यापक होने के कारण है) वह अति सूक्ष्म है, अति समीप है और अति दूर भी है ।

यह तो हुई शरीर को जानने की बात; परन्तु जीवात्मा जब ज्ञानवान होता है तब वह शरीर के बिना भी, प्रकृति से पृथक् अपना अस्तित्व समझने लगता है । वह ज्ञानवान होना क्या है, यही इन पाँच श्लोकों (१३—७, ८, ९, १०, ११) में बताया है । जब ये सब बातें उसमें आ जाती हैं तो वह ज्ञानवान हो जाता है और जब ये नहीं होतीं तो वह अज्ञानी होता है । तब क्या होता है, यह आगे चल कर बताया है ।

प्रकृति की असत् अवस्था महत् और अहंकारों की अवस्था का ही वर्णन है ।
सांख्य में कहा है कि प्रकृति की साम्यावस्था अवर्णनीय है । वह है भी असत्
(अस्वरूपवान्) ही । जैसे महत् और अहंकार की है । ये अवस्थाएँ सदा नहीं
रहतीं और सत् अवस्था अर्थात् स्वरूपवान अवस्था बन जाती है । सत् (स्वरूप-
वान्) अवस्था, परिमण्डल बनने पर जब पंच महाभूत बनते हैं, तब कही जाती है ।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

परमात्मा सब भूतों में (प्राणियों में) पृथक्-पृथक् दिखाई देता है, परन्तु वह बंटा हुआ नहीं है, वह एक ही है और सर्वव्यापक है । ऐसा परमात्मा जानने योग्य है । विष्णु (स्वामी) के समान प्रभाव रखता है । प्राणियों को धारण और पोषण करता है । संहार करने वाला भी है और सब कुछ उत्पन्न करने वाला भी है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशमान पदार्थों में) प्रकाश है । तम (अन्धकार) से पृथक्, ज्योतिस्वरूप (ज्ञानवान्) है । वह जानने योग्य है एवं ज्ञान से ही जानने योग्य है और सब के हृदय में स्थित है ।[६]

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार मैंने क्षेत्र ज्ञान (का साधन) और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में बताया है । इस तत्त्व को जानकर मेरा भक्त मुझ (परमात्मा) से युक्त हो मुक्त (परमात्मा को प्राप्त) होता है ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) इन दोनों को अनादि जान । प्रकृति से ही गुणों (त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति) का होना और परिवर्तनों का होना सम्भव है ।[७]

---

६. इन छः श्लोकों (१३—१२, १३, १४, १५, १६, १७) में शरीर के दूसरे क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) का वर्णन किया गया है । इस अध्याय के आरम्भ में बताया था कि शरीर क्षेत्र है और दो क्षेत्रज्ञ हैं । इस प्रकार तीनों का वर्णन पृथक्-पृथक् किया है । शरीर पाँच भौतिक है । इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि पाँच भौतिक नहीं हैं । इस शरीर में चेतना, सुख-दुःख इत्यादि भी हैं । (श्लोक १३—५, ६) । जीवात्मा के कारण सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष इत्यादि चेतना के गुण प्रकट होते हैं । उसके लक्षण श्लोक १३—७, ८, ९, १०, ११ में वर्णन कर दिये हैं । यह एक क्षेत्रज्ञ है ।

तदनन्तर छः श्लोकों (१३—१२, १३, १४, १५, १६, १७) में दूसरे क्षेत्रज्ञ अर्थात् परमात्मा का वर्णन दिया है । इस वृत्तान्त का उपसंहार श्लोक १३-१८ में कर दिया है ।

७. श्लोक १३—२०, २१ में और श्लोक १३—१९ में पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा ही है । यद्यपि दो पुरुष (क्षेत्रज्ञ) इस अध्याय में कहे गये हैं । उन दो में

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

यह प्रकृति ही है जो करणों को उत्पन्न करती है और उनसे कार्य होते हैं । सुख, दुःख के भोगने में पुरुष हेतु (कारण) है ।

शरीर में रहता हुआ पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति के गुणों से उत्पन्न गुणों के संग के कारण ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है ।[८]

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

(ऊपर वर्णित पुरुष-प्रकृति संयोग में) एक पुरुष सबको देखने वाला, सब का मार्ग-दर्शन करने वाला, सब का पालन करने वाला और सबको समाप्त करने वाला महेश्वर है । यह ऊपर बताये पुरुष से अन्य (परमात्मा) कहा गया है ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृति के गुणों सहित इस प्रकार जानता है, वह सब प्रकार का व्यवहार करता हुआ भी पुनः जन्म नहीं लेता ।[९]

एक का ही यहाँ वर्णन है और वह है जिसे ज्ञान की आवश्यकता है, अर्थात् जो अज्ञानी है । करण से अभिप्राय है इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि । ये तेरह हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक आभ्यंतरिक इन्द्रिय, एक मन तथा एक बुद्धि । इनके आश्रय शरीर कार्य करता है ।

८. जीवात्मा शरीर से (करणों की सहायता से) कार्य करता है । संसार के पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं । इन गुणों से प्रेरित जीवात्मा शरीर से कार्य करता है और जन्म-जन्मान्तर का भोग करता है ।

यह इस अध्याय में नहीं बताया कि शरीर कैसे प्रेरणा देता है कर्म करने की । यह अन्य स्थान पर बताया है कि कामनाएँ ही हैं जो कर्म की प्रेरणा देती हैं । इन कामनाओं से ही संकल्प बनते हैं ।

वेद में उनको शान्त करने के लिये ही प्रार्थना की गयी है ।

९. श्लोक १३-२३ में लिखा है कि जो मनुष्य जीवात्मा, परमात्मा और शरीर का सम्बन्ध इस प्रकार जान लेता है जैसा ऊपर श्लोक (१३-१९, २० २१, २२) में कहा है, वह पुनः इस लोक में जन्म नहीं लेता ।

देखने और समझने का अभिप्राय है ज्ञान के अनुसार आचरण करना । अगले श्लोक में आचरण के विषय में भी कहा है ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कितने ही मनुष्य अपनी बुद्धि से अपने आत्मा को ध्यान द्वारा देखते हैं। दूसरे ज्ञान के सहारे से (सांख्यानुसार) देखते हैं। कुछ अन्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए देखते हैं।[10]

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

दूसरे (जो ऊपर कहे अनुसार नहीं कर सकते) इस प्रकार न जानते हुए दूसरों के द्वारा कहे को सुनकर उपासना करते हैं, वे श्रुति ग्रन्थों के परायण हुए भी मृत्यु को सर्वथा उलांघ जाते हैं।

यावत्संजयाते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर और जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की भाँति संयोग से हुआ जान।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो इन नाश होने वाले सब प्राणियों में समान रूप मे अविनाशी परमात्मा को देखता है, वही वास्तव में देखता (जानता) है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

वह (जैसा ऊपर के श्लोक में वर्णन किया है) सब में समान रूप में उपस्थित सबसे एकरस रहने वाले परमेश्वर को देखता है। इस कारण वह जानबूझ कर अपने आपको (कु-मार्ग पर चल कर) नष्ट नहीं करता। इस कारण वह परम गति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

---

१०. तीन प्रकार से इस संसार को पार किया जा सकता है। एक बुद्धि द्वारा शरीर और इन्द्रियों पर शासन करने से दूसरे ज्ञान के विषय और इन्द्रियों को समझकर उनके भोग और भोग के परिणामों को समझ लेने से; तथा तीसरे निष्काम भाव से इस संसार में रहने से।

तीनों का प्रभाव समान रूप से होता है। विषयों से अनासक्ति उत्पन्न होती है और फिर वह अनासक्ति कर्म पर प्रभाव डालती है। इससे अन्ततोगत्वा निष्काम भाव से कर्म होने लगते हैं।

यही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

और जो मनुष्य सब कर्मों को प्रकृति से ही किया जाता मानता है और आत्मा (जीवात्मा) को अकर्त्ता मानता है (अनासक्त, निर्लेप मानता है) वही वास्तविक तत्त्व को देखता (जानता) है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब मनुष्य भिन्न-भिन्न आचार-विचार के प्राणियों को भी देखता है कि सब परमात्मा के आधार पर फल-फूल रहे हैं, तब वह मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

परमात्मा अनादि है और निर्गुणत्व वाला अविनाशी होने से प्राणी के शरीर में रहता हुआ भी कुछ नहीं करता, न ही किसी कर्म में लिप्त होता है।[11]

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सब स्थान पर आकाश व्यापक होने से और सूक्ष्म होने से किसी से भी लिपायमान नहीं होता, वैसे ही पूर्ण देह में स्थित होते हुए भी आत्मा (परमात्मा) लिपायमान नहीं होता।[12]

---

११. निर्गुणत्व शब्द परमात्मा के लिये कहा है। यहाँ गुणों से अभिप्राय है प्रकृति के तीन गुण। वैसे परमात्मा निर्गुण नहीं है। उसके अपने गुण हैं। वे उसके साथ सदा रहते हैं। उदाहरण के रूप में वह सर्वव्यापक है। वह अमित सामर्थ्य रखने वाला है और सर्वथा शुद्ध है इत्यादि। और वह सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों से दूर रहता है।

१२. परमात्मा की उपमा आकाश के साथ दी गयी है। यह स्मरण रखना चाहिये कि आकाश शब्द से दो पदार्थों की कल्पना की गयी है।

एक आकाश है पंच भौतिक। यह भूतों के साथ ही उत्पन्न हुआ था। पंच महाभूत अहंकारों से उत्पन्न हुए थे और अहंकारों के संयोग का परिणाम हैं। जो वस्तु संयोग से बनती है, वह विभक्त हो पुनः पूर्व संयुक्त रूप में हो जाती है। इस कारण परमात्मा की तुलना पांच भौतिक आकाश से नहीं है। पाँच भौतिक आकाश सर्वव्यापक नहीं। न ही यह सबसे सूक्ष्म पदार्थ है।

दूसरा आकाश वह माना गया है जो पूर्ण व्योम को भर रहा है।

ब्रह्मसूत्रों में भी दो प्रकार का आकाश कहा है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सब क्षेत्रों को, हे भारत! वह प्रकाशमय (प्राणवान) करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में इस प्रकार भेद जो ज्ञान के नेत्रों से देखता है, वह पंच-भौतिक प्रकृति से मुक्ति पाने के उपायों को जानकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है।

इस अध्याय में प्राणी की व्याख्या वेद मतानुसार बहुत ही सुन्दर ढंग से की गयी है। व्याख्या का आधार वेदमंत्र (ऋ०१-१६४-१, २०, २१, २२) है। ऋग्वेद (१-१६४-१) में कहा है कि प्राणी में तीन तत्त्व उपस्थित होते हैं। एक बूढ़ा हो जाने वाला है। इसे शरीर कहते हैं। इसमें एक तत्त्व है जो इस शरीर की सहायता से संसार का भोग करता है। इसे जीवात्मा कहते हैं और तीसरा है जो इन दोनों तत्त्वों की रक्षा और सहायता करता है। यह परमात्मा है। परमात्मा अपनी शक्ति (प्राण) से दोनों की सहायता करता है। प्राण सात रूपों में शरीर में कार्य करता है।

ऋ०१-१६४-२० में कहा है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो सुन्दर गतियों वाले चेतन तत्त्व अवस्थित हैं—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है। परमात्मा भोग नहीं करता। वह केवल साक्षी मात्र है।

ऋ० १-१६४-२१ में कहा है कि जीवात्मा जो ज्ञान प्राप्त कर संसार से उपराम हो जाते हैं, वे मोक्ष पद पाते हैं।

ऋ० १-१६४-२२ में कहा है कि वे जीवात्मा जो इस संसार का भोग करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, वे जन्म-मरण के बन्धन में फँसे हुए, ईश्वर को भी भूल जाते हैं।

चतुर्दश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

(अनेक पदार्थों के) ज्ञानों में (परम्) सर्वश्रेष्ठ (पदार्थ का) ज्ञान मैं कहूँगा, जिसको जानकर मुनि लोग परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान के आश्रय से मेरे (परमात्मा के) धर्म को प्राप्त हुए पुरुष न तो सृष्टि के आरम्भ में जन्म लेते हैं, न ही प्रलय काल में व्याकुल होते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे अर्जुन! महत् ब्रह्म इस (ब्रह्माण्ड) की योनि है। उसके गर्भ में मैं (परमात्मा) चेतन रूप गर्भ स्थापित करता हूँ। उस गर्भ से सब प्राणी जगत् उत्पन्न होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौन्तेय! सब योनियों के शरीरों में, जो उत्पन्न होते हैं, उन सब की योनि (गर्भ को धारण करने वाली जननी) महद्ब्रह्म है परन्तु उसमें बीज मैं (परमात्मा) डालता हूँ।[१]

---

१. बीज मैं डालता हूँ, ऐसा परमात्मा की ओर से कहा गया है। 'मैं' परमात्मा का ही सूचक है।

इस कथन से यहाँ एक भ्रम पैदा हो सकता है कि प्राणी में आने वाला जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। वस्तुतः ऐसा है नहीं।

यहाँ तो शरीर का ही वर्णन हो रहा है। शरीर में एक तो पाँच भौतिक अंश होता है और एक कार्य करने की शक्ति है, जिसे प्राण कहते हैं। यही प्राण परमात्मा की ओर से दिये जाने की बात है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।

हे अर्जुन ! सत्त्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, प्रकृति से उत्पन्न देह को धारण करने वाले अविनाशी (जीवात्मा) को शरीर में बाँधते हैं।[१]

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।६।।

हे निष्पाप (अर्जुन) ! उन तीनों गुणों में, प्रकाश करने वाला निर्मल होने के कारण सत्त्वगुण, कष्ट से रहित सुख की आसक्ति उत्पन्न करने के कारण तथा (इस बात के) ज्ञान से शरीर से मोह उत्पन्न करता है।[२]

परमात्मा प्राणी के शरीर में अपने सात पुत्रों से कार्य करता है। ऐसा वर्णन वेद (ऋ० १-१६४-१) में है।

यही बात गीता का प्रवक्ता पहले (श्लोक १३-२०, २१, २२ में) भी कह चुका है। वहाँ कहा है कि शरीर में पाँच भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त सुख-दुःख का भोगने वाला तथा जन्म-मरण के बन्धन में लिपटा हुआ आत्मा पृथक् है और इन दोनों से पृथक् उपद्रष्टा अनुमंता, भर्ता, भोक्ता परमात्मा महेश्वर है। यह देह में दूसरे पुरुष से पृथक् है।

२. विज्ञान में जिसे प्रोटोन, इलेक्ट्रोन और न्यूट्रोन कहते हैं, वही वैदिक भाषा में सत्त्व, रजस् और तमस् हैं।

प्रकृति के सब पदार्थ जिनमें प्राणी का शरीर भी है, इन तीनों गुणों से बने हैं। इनका शरीर में समावेश न्यूनाधिक होता रहता है अर्थात् एक को प्रमुखता और दूसरे की हीनता होती रहती है।

यह सांख्यदर्शन में भी कहा है कि इन्द्रियों में सत्त्व तथा रजस् की सहाय से कार्य होना है अर्थात् इन शिराओं में दोनों गुण काम करते हैं और उनमें तमस् नहीं होता। अभिप्राय यह कि इन शिराओं में सत्त्व गुण और रजस् गुण न्यूनाधिक होते रहते हैं।

३. यदि सत्त्व गुण प्रधान हो तो सुख की अनुभूति होती है और जब रजस् गुण बढ़ जाता है तो दुःख की अनुभूति होती है। सुख जब होता है तो शरीर से मोह बढ़ जाता है। इस प्रकार सतोगुण भी जीवात्मा को शरीर में बाँधता है।

वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है कि शरीर के काम करने के समय विद्युत की लहर इन शिराओं में चलती है। विद्युत की लहरें इलैक्ट्रोन का प्रभाव ही होता है। यह भी अनुभव होता है कि विद्युत की लहर अर्थात् इलैक्ट्रोन (तेजस् अहंकार) का प्रवाह न्यूनाधिक कष्ट ही देता है। इससे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

अतएव वैदिक सिद्धान्त ठीक ही प्रतीत होता है कि शिराओं में मुख्य गुण

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।७।।

रजोगुण कामनाओं और आसक्ति से उत्पन्न होता है। वह जीवात्मा को कर्म करने पर लगाता है और उसे कर्मों के फल के मोह में बाँधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।८।।

और सब देहाभिमानियों में मोहने वाला तमोगुण होता है। यह अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह जीवात्मा को प्रमाद (इन्द्रियों और मन की कुचेष्टाओं) आलस्य तथा निद्रा में बाँधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।९।।

सत्त्व गुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढक कर प्रमाद जगाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।

रजोगुण और तमोगुण को दबाकर रखने से सतोगुण में वृद्धि होती है। रजोगुण और सतोगुण को दबाने से तमोगुण बढ़ता है। और तमोगुण तथा सतोगुण को दबाकर रखने से रजोगुण में वृद्धि होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।

जब देह के सब द्वारों (इन्द्रियों) में प्रकाश (ठीक प्रकार से कार्य करने की शक्ति) उत्पन्न होती है तब ज्ञान और विद्या में सतोगुण की वृद्धि होती है।[४]

सत्त्व होता है और गौण रूप में तेजस् होता है।

इसी कारण इन्द्रियों को सत्त्व गुण प्रधान माना जाता है। इस पर भी ये कार्य करती हैं रजोगुण की सहायता से।

४. देह के द्वार नौ हैं। दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक मुख, मलद्वार और मूत्रद्वार। इनमें प्रकाश होता है अर्थात् इनके काम उचित ढंग से और उचित मात्रा में होने लगते हैं तो अनुभव और अभ्यास की वृद्धि होती है। यह इस प्रकार कि आंखें, नाक, कान और जिह्वा ही मुख्य साधन हैं ज्ञान प्राप्त करने के। यदि ये ठीक प्रकार से कार्य करते रहें तो ज्ञान और विद्या में वृद्धि होती है।

ज्ञान और विद्या में भी अन्तर जान लेना चाहिये। जैसा देखा जाता है, सुना जाता अथवा चखा जाता है, वैसा स्मरण रखना ज्ञान है, परन्तु विद्या उस ज्ञान

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

रजोगुण के बढ़ जाने पर लोभ, चंचलता, स्पृहा (लालसा) इन कर्मों को करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

तमोगुण के बढ़ जाने पर (अन्तःकरण में) अप्रकाश (अज्ञान), कर्तव्य (कर्मों) में अप्रवृत्ति (अरुचि) और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), मोह (आसक्ति) ये सब उत्पन्न हो जाते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब यह देह धारण करने वाला (जीवात्मा) सत्त्व गुणों की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह उसमें कर्म करनेवालों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर (जीवात्मा) कर्म प्रधान मानव जीवन पाता है और तमोगुण के बढ़ने पर मूढ़ योनियों (बुद्धिविहीन योनियों) में उत्पन्न होता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सुकृत कर्म (भले कार्य) करने का सात्त्विक (स्वभाव) निर्मल (बुद्धि) फल कहा है। राजसी कर्मों का फल दुःख और तामसी कर्मों का फल अज्ञान है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव एच।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च। १७॥

सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से निश्चय से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान होता है।

से प्राप्त किये परिणामों का नाम है।

उदाहरण के रूप में यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसकी पहचान कि वह दशहरी है, सफेदा है, लंगड़ा है अथवा चौसा है, ज्ञान का क्षेत्र है। परन्तु आम खाने से हानि-लाभ, इसके खाने का समय, ढंग इत्यादि की जानकारी विद्या है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्व गुण में स्थित हुआ मनुष्य ऊँचे (प्रत्येक प्रकार से उन्नति के) मार्ग पर जाता है। रजोगुण में स्थित मध्य मार्ग पर (न सुखी, न दुःखी, न बुद्धिमान, न मूर्ख इस प्रकार मध्य वर्ग में) रहता है। तमोगुण में स्थित पुरुष अधोगति, (निर्धन) बुद्धिविहीन तथा अन्य प्रकार से हीन स्थिति में अथवा कीटपतंगादि योनियों में जाता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

गुण तीन ही हैं, इनके अतिरिक्त और कोई भाव नहीं दिखाई देता। और जो द्रष्टा तीनों गुणों को तत्त्व से जानता है, वह मुझ (परमात्मा) को ही पाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

इन तीनों गुणों को पार करके पुरुष जन्म-मृत्यु, बुढ़ापा, दुःख, इन सब से मुक्ति पाकर अमरता को प्राप्त होता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन ने पूछा—

इन तीनों गुणों को जो लाँघ जाता है, उसके क्या-क्या लक्षण होते हैं और हे प्रभो! किन-किन उपायों से इन गुणों से ऊपर उठा जा सकता है?

श्रीकृष्ण उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

हे अर्जुन! जो (सत्त्वगुण के कार्यरूप) प्रकाश (ज्ञान), (रजोगुण के) प्रभाव से प्रवृत्ति तथा (तमोगुण के) प्रभाव से मोह में प्रवृत्त होने पर न तो द्वेष करता है और न ही इनसे निवृत्ति की आकांक्षा करता है;

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३।।

(संसार के कार्यों में) उदासीन की भाँति (साक्षी की भाँति) गुणों से डोल नहीं जाता, गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसे व्यवहार में स्थित रहने वाला (गुणों से) चलायमान नहीं होता;

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।२४।।

जो दुःख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर तथा स्वर्ण को समान भाव से समझने वाला, प्रिय-अप्रिय को समान समझने वाला तथा निन्दा-स्तुति में भी समानभाव वाला ;

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५।।

मान और अपमान में सम, मित्र तथा वैरी में भी समान भाव रखने वाला और प्रत्येक कार्य के आरम्भ में, त्याग भाव से प्रवृत्त गुणातीत (गुणों से ऊपर) कहा जाता है ;

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।।

और जो व्यक्ति सरल, सीधे मार्ग पर चलता हुआ मेरे (परमात्मा के) प्रति भक्ति-भाव बनाकर मेरे को भजता है, वह इन गुणों को लाँघकर मेरे (परमात्मा) से एकीभाव होने योग्य हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।

(ऐसा होने पर) अविनाशी तथा अमृतरूपेण ब्रह्म का आश्रय और सदा रहने वाले (शाश्वत) धर्म (व्यवहार) की ओर एकरस रहने का आश्रय मैं हूँ ।[५]

---

५. सत्त्व, रजस, तमस् प्रकृति के गुण हैं। इन से ही तीन प्रकार के अहंकार बनते हैं। वैदिक भाषा में इनको आपः कहा है। विज्ञान की भाषा में इनको परिमण्डल के कण (atomic particles) कहा जाता है।

प्राणी में मन और बुद्धि भी प्रकृति का रूप ही हैं। ये दोनों महत् का अणु मात्र माने जाते हैं।

तीनों अहंकारों (वैकारिक, तेजस्, भूतादि) का इन पर आवेश (chorge) का प्रभाव मन तथा बुद्धि पर पड़ता है। इन्द्रियों में शक्ति का बहाव रहता है।

शक्ति विद्युत (ऋण, धन और शून्य) कम तथा अधिक होती रहती है। इनका ही मन पर तथा बुद्धि प्रभाव पड़ता है।

यह कहा जा सकता है कि धन (पौजिटिव) विद्युत का बाहुल्य हो जाये तो मन एक प्रकार से विचार करने लगता है और बुद्धि की दिशा एक ओर को झुक जाती है और यदि ऋण (नैगेटिव) विद्युत का बाहुल्य हो जाये तो बुद्धि दूसरी प्रकार से विचार करने लगती है और मन में दूसरी प्रकार की कल्पनाएँ जागृत होने लगती हैं।

यहाँ इतना समझ लेना चहिये कि मकानों में जो धन, ऋण तथा शून्य (positive, negative, neutral) तारें होती हैं, ये वास्तव में सब ऋण ही हैं। पृथिवी में भी विद्युत का आवेश होता है और क्योंकि हम पृथिवी के सम्पर्क में सदा रहते हैं इस कारण हममें तथा पृथिवी में एक ही पौटेंशल (स्तर) पर ऋण विद्युत का चार्ज रहने से हम अपने में तथा पृथिवी में कुछ भी भेद अनुभव नहीं करते। वस्तुतः हममें तथा पृथिवी में भी, ऋण विद्युत का एक आवेश रहता है।

जो सतोगुण अथवा वैकारिक अहंकार (proton) का आवेश है, वह पृथिवी और हमारे आवेश से बहुत ही भिन्न है। इसी प्रकार उस धन और वर्तमान ऋण में बहुत अन्तर है। दोनों के बीच में एक शून्य है, वह बहुत नीचे है।

कुछ भी हो, जो प्रश्न समझना आवश्यक है, वह यह है कि मन पर कैसे धन आवेश का प्रभाव होता है और कैसे ऋण आवेश का प्रभाव होता है ? गीता में यही समझाने का यत्न किया गया है। मन और बुद्धि को दुःख-सुख, मान-अपमान, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ में समभाव रखने से इन अहंकारों के प्रभाव में अन्तर पड़ जाता है। इसका प्रत्यक्ष में दर्शन तो होता नहीं। इस कारण इनके प्रभाव से ही इनका ज्ञान होता है।

यह समभाव भूतादि अहंकार का प्रभाव नहीं। दोनों में अन्तर है। भूतादि अहंकार में तो मन और बुद्धि आवेश रहित (chargless) हो जाते हैं। समभाव से बुद्धि और मन आवेशयुक्त (charged) तो होता है, परन्तु दोनों चार्ज समान रहते हैं।

गुण प्रकृति के हैं और इन वैकारिक, तेजस् और भूतादि अहंकारों से ही मन पर प्रभाव उत्पन्न होता है।

मनुष्य जैसे कर्म करे, उस कर्म की प्रतिक्रिया से जैसा मन में समझे और बुद्धि से विचार करे, वैसा ही आवेश (charge) मन और बुद्धि पर हो जाता है।

पंचदश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्री कृष्ण ने कहा —

जिसका मूल ऊपर है (अर्थात् परमात्मा मूल है जिसका) और शाखायें नीचे को लटक रही हैं (परमात्मा से निर्मित सृष्टि शाखाओं की भाँति नीचे को आ रही हैं), ऐसा संसार रूपी पीपल का वृक्ष है। इसके पत्ते (छन्द) वेद अविनाशी कहे जाते हैं। इस वृक्ष को जो तत्त्व से जानता है, वह वेद का विद्वान् माना जाता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर और नीचे फैली हुई हैं। ये शाखाएँ गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) से वृद्धि पाये हुए हैं। (इन शाखाओं पर) विषय रूपी कोंपलें हैं। शाखाएँ हैं भिन्न-भिन्न योनियाँ। ये नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। मनुष्य योनि में कामनाएँ कर्मों से (और फलों से) बाँधती हैं। ये (कामनाएँ) नीचे और ऊपर सब में व्याप्त हो रही हैं।[1]

---

१. इस श्लोकों (१५-१, २, ३) में इस संसार को एक अलंकार द्वारा समझाने का यत्न किया गया है। परमात्मा से ही संसार उत्पन्न हुआ है और कार्य-जगत् चारों ओर फैला हुआ है। यह कामनाओं के कारण फलता-फूलता है।

अलंकार यद्यपि सर्वथा ठीक नहीं है, इस पर भी इस विषय को समझाने का बहुत अच्छा प्रयास है।

परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा तुरिया अवस्था में पृथक्-पृथक् रहते हैं। साम्यावस्था में प्रकृति निश्चल होती है। प्रकृति निश्चल होने के कारण जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में होते हैं। एक परमात्मा ही है जो इस सब में व्याप्त रहता है।

जब रचना आरम्भ होती है तो परमात्मा का तेज घोर शब्द करता हुआ उत्पन्न होता है और फिर परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होती है। तब जगत् रचना आरम्भ हो जाती है और फिर चलते-फिरते जगत् का आविर्भाव होता है। यह क्रम संसार का है और इसका आदि मूल परमात्मा कहा जाता है, क्योंकि उसके तेज से ही रचना आरम्भ होती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

इस (संसार रूपी) वृक्ष का जो रूप वर्णन किया गया है, इस संसार में वैसा नहीं पाया जाता। क्योंकि न तो इसका आदि है, न ही अन्त है। न ही पता है कि यह कहाँ टिका हुआ है। इस कारण इसके सुदृढ़ जड़ को कठोर वैराग्य से काटकर;

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उस (वैराग्य से वृक्ष का मूलोच्छेदन करने के उपरान्त) पद (मोक्ष पद) का मार्ग ढूंढना चाहिये जिस (पद) पर पहुँचे हुए फिर पीछे इस संसार में नहीं आते। और जिस कारण से इस प्राचीन संसार वृक्ष की प्रवृत्ति बनी हुई है, उस आदि पुरुष की शरण में जाऊँ (ऐसा निश्चय करना चाहिये)।[2]

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

वे ज्ञानी जन इस परम अविनाशी पद को पाते हैं, जिनमें मान का मोह नष्ट हो गया है, बिषयों में लीनता का दोष जिन्होने नियंत्रित कर लिया है, अध्यात्म की ओर जिनकी निरन्तर रुचि हो जाती है, कामनाओं से विशेष छुटकारा पा लिया है जिन्होंने और सुख-दुख के द्वन्द्वों से जो मुक्त हो गये हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

उस (परम पद, मोक्ष पद) को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा, न ही अग्नि। जिस पद को प्राप्त कर मनुष्य फिर नहीं लौटते, वही मेरा (परमात्मा का) परम श्रेष्ठ धाम है।

---

२. कारण दो प्रकार के होते हैं। एक भौतिक, दूसरे नैमित्तक। नैमित्तिक कारण शरीर निर्माण में साधन नहीं होते।

उदाहरण के रूप में घड़ा बना है। इसमें दो कारण हैं—एक मिट्टी। यह भौतिक कारण है। दूसरा है घड़ा बनाने वाला कुम्हार। यह निमित्त कारण है। वह स्वयं घड़ा नहीं बन जाता। इस पर भी वह बनाने में कारण है।

इसी प्रकार सृष्टि जिसको पीपल के वृक्ष की भाँति माना है, भौतिक तत्त्वों से बनी है। इसको बनाने वाला परमात्मा इसका निमित्त कारण है।

इस श्लोक में परमात्मा को कारण इसी रूप में कहा है। वह जगत् का निमित्त कारण है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही अंश है इस प्राणी (शरीर) में, यह जीवात्मा जो अनादि तत्त्व है। वही शरीर में स्थित मन सहित छहों इन्द्रियों को आकर्षित करता है।[3]

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जिस भी शरीर को जीवात्मा त्यागता है, उससे जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें वायु में सुगन्धि की भाँति जाता है।[4]

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और नाक तथा मन की सहायता से ही विषयों का सेवन करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(जीवात्मा) जब यह शरीर छोड़कर जाता है अथवा जब यह शरीर में स्थित हुआ गुणों से युक्त हो विषयों को भोग करता है तब भी इसको अज्ञानी जन नहीं जानते। अर्थात् जीवात्मा ज्ञान से ही जाना जाता है।

---

३. यहाँ जीव को परमात्मा का अंश कहा है। इस कथन से यह भासित होता है कि जीवात्मा जो शरीर में स्थित है परमात्मा का ही अंश है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह कथन उसी प्रकार है जैसे पिता अपने पुत्र को अपना ही अंश कहता है। पुत्र का निर्माण पिता के वीर्य से होता है। इसी प्रकार प्राणी का निर्माण परमात्मा की शक्ति से ही होता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्राणी में जो उपादान (material) लगा है, वह भी परमात्मा है। वह तो पृथक् वस्तु है। प्राणी का शरीर प्रकृति के परमाणुओं से बना है, परन्तु बनता ईश्वरीय शक्ति से है। इसी कारण प्राणी को परमात्मा-कृत कहा है।

४. कहा है कि जीवात्मा हवा के साथ गन्ध की भाँति एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। इसका अभिप्राय है कि शरीर पहले निर्माण होता है, रहने योग्य स्थान बन जाने पर जीवात्मा पीछे उसमें आता है। कहते हैं कि शरीर निर्माण आरम्भ होने के लगभग डेढ़-दो मास उपरान्त जीवात्मा शरीर में प्रवेश है।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

इस आत्मा को योगी-जन ही यत्न करने पर देख (जान) सकते हैं। जिन्होंने अपने अन्तरात्मा को शुद्ध नहीं किया, ऐसे अज्ञानी यत्न भी करें तो इसको नहीं जान सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है, वह मेरा (परमात्मा का) ही तेज है, ऐसा जान।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

गतिशील पदार्थों में प्रवेश करके मैं (परमात्मा) ही अपने ओज से सब के सब भूतों को धारण करता हूं और सम्पूर्ण औषधियों में मैं (परमात्मा) रस-स्वरूप सोम (शान्ति और सुख देने वाला) होकर उनको पुष्ट करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं (परमात्मा) वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों के शरीरों में स्थित हूं। प्राण और अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

और मैं (परमात्मा) ही सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ। स्मृति और ज्ञान मेरे (परमात्मा के) ही कारण हैं और अपोहन (अनुभव करने) की शक्ति भी मुझ (परमात्मा) से ही प्राप्त होती है। वेद के द्वारा जानने योग्य और वेद को जानने वाला मैं ही हूँ।[5]

---

५. इन श्लोकों में यह कहा है कि प्राण परमात्मा का ही देन है। मनुष्य के सब कार्य प्राण से होते हैं। इसी कारण सब जीवों में इसे परमात्मा का ही देन माना है। मनुष्य में मन ज्ञान संचय करता है। इसी कारण कहा है कि ज्ञान परमात्मा है। इसी प्रकार बुद्धि भी परमात्मा की शक्ति से कार्य करती है। यही इन श्लोकों का अभिप्राय है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में (प्राणी शरीर में) क्षर और अक्षर दो प्रकार के पदार्थ हैं। जो भूतों से बने हैं, वे सब नाशवान् हैं और जो शरीर के हृदय की गुहा में रहता है वह अविनाशी कहा जाता है।[६]

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

उत्तम पुरुष तो अन्य ही (पूर्व श्लोक में कहे दो से अन्य) है। वह परमात्मा कहा गया है। वह तीनों लोकों में सबका धारण पोषण करता है। वह अविनाशी ईश्वर है।

क्योंकि मैं (परमात्मा) जड़वत् नाशवान् से पृथक् हूँ और अविनाशी (जीवात्मा) से भी श्रेष्ठ हूँ इस कारण लोकों में और वेद में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत! इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष मुझ (परमात्मा) को पुरुषोत्तम जानता है, वह सब प्रकार से निरन्तर मेरा (सर्वव्यापक परमात्मा का) ही भजन करता है।[७]

---

६. इस श्लोक में मनुष्य शरीर के मुख्यांशों के विषय में कहा है। शरीर पंच भौतिक है अर्थात् पाँच भूतों से बना है। भूत प्रकृति के परिणाम हैं। जगत् के सब पदार्थ पाँच भूतों के बने हैं। जगत् पदार्थों से प्राणी का शरीर भिन्न प्रकार का है। यह इस कारण कि इसमें पाँच भूतों के अतिरिक्त भी एक तत्त्व (पुरुष) रहता है। यह तत्त्व जीवात्मा है और अविनाशी है। पाँच भूतों से बना शरीर क्षर (नाशवान्) है।

७. परमात्मा की तीनों लोकों में उपस्थिति जान लेने का अभिप्राय यह है कि उसके अस्तित्व का विश्वास हो। संदेहरहित जो परमात्मा को सब स्थानों पर व्यापक जानता है वह ही उसे जानता है। ऐसा मानने वाले का व्यवहार विलक्षण हो जाता है। वह संसार से विरक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति परमात्मा का भक्त अर्थात् उसका भजन करने वाला हो जाता है। इसका फल उसके अपने कर्मों में श्रेष्ठता उत्पन्न होना है। इससे वह श्रेष्ठ फल का भोक्ता हो जाता है। परमात्मा के भजन का यही अर्थ है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे अर्जुन! यह अत्यन्त रहस्यमय विद्या मेरे द्वारा कही गई है। इसके तत्त्व को जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।

इस अध्याय में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का प्राणी में स्थान बताया है। गीता के तेरहवें अध्याय में भी इसी विषय पर कहा था, परन्तु यहाँ एक विशेष बात बतायी है कि प्राणी के शरीर में गतियाँ परमात्मा की शक्ति से ही होती हैं।

यह भी बताया है कि मनुष्य के मन में ज्ञान संचय और बुद्धि का कार्य भी परमात्मा की शक्ति से होता है।

यह शक्ति परमात्मा की ओर से जीवात्मा को प्राप्त होती है। यह सबको समान रूप में नहीं मिलती। जीवात्मा के पूर्वजन्म के कर्मफलों के अनुसार ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की शक्ति मिलती है।

मनुष्य वर्तमान जीवन में उस प्राप्त शक्ति में कुछ तो वृद्धि कर ही सकता है, परन्तु पूर्व की प्राप्त शक्ति अर्थात् इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि के आश्रय ही वह उन्नति होती है।

परमात्मा की शक्ति मनुष्य के शरीर में कार्य करती है, परन्तु क्योंकि यह शक्ति जीवात्मा की इच्छानुसार प्रयुक्त होती है, इस कारण उस प्रयोग का अच्छा-बुरा फल जीवात्मा को ही मिलता है।

यह माना गया है कि मनुष्य के हृदय (मस्तिष्क) में एक बहुत छोटा सा स्थान होता है जहाँ जीवात्मा, मन और बुद्धि स्थित होते हैं। सब इन्द्रियाँ भी वहाँ ही पहुँचती हैं। ज्ञान-इन्द्रियाँ (चक्षु-इन्द्रिय, श्रवण-इन्द्रिय, रसना-इन्द्रिय, स्पर्श-इन्द्रिय और घ्राण-इन्द्रिय) बाहर के पदार्थों का ज्ञान भीतर ले जाती हैं। वह ज्ञान मन तक पहुँचता है। मन जीवात्मा के सम्मुख वह ज्ञान प्रस्तुत करता है और जीवात्मा बुद्धि की सहायता से उस ज्ञान का विश्लेषण कर कर्मेन्द्रियों को आदेश देता है। कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, लिंग, गुदा और वाक्) भी पाँच हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों का मूल मन ही है। मन ही जीवात्मा और इन्द्रियों के बीच में संयोग स्थान है।

इस प्रकार मनुष्य (तथा उससे कुछ कम स्तर पर पशु-पक्षी आदि) का शरीर कार्य करता है।

षोडश अध्याय

श्रीकृष्ण उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

निर्भय होना, अन्तःकरण (मन और बुद्धि) की भलीभाँति शुद्धि, ज्ञान से सदा संयोग (सम्बन्ध), दान (अधिकारी को देना), इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण, स्वाध्याय, तपस्या और चित्त की सरलता ;

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा (किसी को कष्ट न देना), सत्य (जो जैसा है, वैसा ही) कहना, क्रोध न करना, त्याग (अनावश्यक को न रखना), शान्ति (चित्त की स्थिरता), सब प्राणी से दयाभाव, विनम्रता, बुरे कर्म का त्याग, इन्द्रियों में दृढ़ता—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेज (बल), क्षमा करने के लिए तत्पर, धैर्य और मन-वचन-कर्म की शुद्धता, किसी का बुरा न विचार करना, अपने में अभिमान न करना, इन (ऊपर तीनों श्लोकों में बताये) भावों को दैवी सम्पदा (सम्पत्ति) माननी चाहिये ।[1]

---

१. दैवी सम्पदा (सम्पत्ति) का अभिप्राय है श्रेष्ठ गुण । श्रेष्ठ गुण हैं—(१) निर्भय होना, (२) मन, बुद्धि की निर्मलता, (३) ज्ञान से सदा सम्पर्क, (४) दान में रुचि, (५) इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण, (६) लोक-कल्याण में रुचि, (७) स्वाध्याय, (८) जप, (९) चित्त की सरलता, (१०) अहिंसा, (११) सत्य-वादन, (१२) क्रोध न करना, (१३) त्याग, (१४) चित्त की स्थिरता, (१५) निन्दा करने में अरुचि, (१६) दयाभाव, (१७) लोभ न करना, (१८) व्यवहार में कोमलता, (१९) व्यर्थ की चेष्टाओं से अरुचि, (२०) बल, (२१) क्षमाभाव, (२२) धैर्य, (२३) मन, वचन, कर्म में शुद्धता (२४) वैर-भाव का त्याग तथा (२५) अभिमान न करना। ये पच्चीस गुण दैवी स्वभाव वालों के बताये हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान, क्रोध, अज्ञान, कठोर वाणी ये आसुरी सम्पत्ति को प्राप्त हुए के लक्षण हैं ।[2]

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पत्ति मुक्ति देने वाली और आसुरी सम्पदा बाँधने वाली मानी गयी है । इसलिए हे अर्जुन ! तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि तुम दैवी सम्पत्ति (के वातावरण) में उत्पन्न हुए हो ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥६॥

हे अर्जुन ! इस (मनुष्य) लोक में दो प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं । एक दैवी स्वभाव वाले और दूसरे आसुरी स्वभाव वाले । इनके विषय में विस्तार से कहूँगा, तुम सुनो ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति योग्य और निवृत्ति योग्य (क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये) यह भी नहीं जानते । इस कारण उनमें शुद्धि (शरीर, मन और बुद्धि की) नहीं होती । न चरित्र के विषय में और न ही सत्य के विषय में वे जानते हैं ।

इस कारण वे कहते हैं—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

(कहते हैं कि) जगत् आश्रयरहित, असत्य, बिना ईश्वर (इसके बनाने वाले) के, अपने आप ही बिना संयोग के उत्पन्न हुआ है । (इसलिये) उनका प्रयोजन भोग विलास के सिवाय और कुछ नहीं ।[3]

---

२. आसुरी भाव हैं—(१) धोखाधड़ी, (२) घमण्ड, (३) अभिमान, (४) क्रोध, (५) कठोर व्यवहार । ये पाँच आसुरी गुण कहे गये हैं ।

घमण्ड है अपने गुणों और कर्मों की प्रायः असत्य बातों का वर्णन ।

३. श्लोक सात में यह कहा है कि जो आसुरी स्वभाव वाले हैं, वे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं जानते अर्थात् वे बुद्धिविहीन होते हैं । बुद्धिमान मनुष्य करने योग्य और न करने योग्य को समझ सकता है । दूसरे शब्दों में यह कहा है कि आसुरी स्वभाव वाले दुर्बल बुद्धि रखते हैं ।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।९॥

इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान के आश्रय में, नष्ट आत्मा वाले, उग्र कर्म करने वाले जगत् का क्षय करने (नाश करने) वाले, बुरे कर्म करने में संलग्न होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कामनाओं का आश्रय लेकर, दम्भ (छलना), अभिमान, बदमस्त, असीम इच्छाओं से युक्त मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण कर भ्रष्ट आचरण में लगे रहते हैं।

जो आसुरी स्वभाव वालों के लिए आगे कहा जा रहा है वह सब कुछ बुद्धि की दुर्बलता का विषय ही है। बुद्धिहीनता के कारण ही आगे की सब बातें स्वयं होने लगती हैं।

बुद्धिविहीनता का एक लक्षण यह भी है कि वे इस संसार को स्वतः, बिना बनाने वाले के, बना मानने लगते हैं अर्थात् परमात्मा को नहीं मानते। ईश्वर को नहीं मानना बुद्धिविहीनता कही है। यह इस कारण कि प्रकृति का भी उनको ज्ञान नहीं होता।

प्रकृति स्वयं गति में नहीं आती। अनात्म तत्त्व वाली कोई वस्तु स्वतः गति में नहीं आती। वैज्ञानिक भी ऐसा मानते हैं। इस कारण पृथिवी, सूर्य और अन्य तारागण जो निरन्तर गति कर रहे हैं, उनको गति देने वाला कोई है। यह शुद्ध वैज्ञानिक तथा बुद्धियुक्त तथ्य है।

ऐसे लोगों का तीसरा लक्षण यह होता है कि ये लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये, जो कभी पूरी नहीं होतीं, संसार का अहित करते हैं और महान् हत्याकाण्डों को सम्पन्न करते हैं।

फिर वे जो भी कर्म करते हैं, उसके मूल में अपनी कामनाओं की पूर्ति होती है। कामनाएँ अग्नि में घी के समान होती हैं। ज्यों-ज्यों उनकी पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों इनकी वृद्धि होती जाती है। ये बुद्धिविहीन लोग उनके पीछे भागते हुए मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करने लगते हैं और अपार जन-संहार की चेष्टा करते हैं।

यूरोप में नैपोलियन, मुसोलीनी, हिटलर के दृष्टांत इन आसुरी प्रवृति वालों के व्यवहार का भलीभाँति दर्शन कराते हैं।

ये तानाशाह विस्तारवादी प्रवृत्ति को लिये हुए विदेशों पर आक्रमण करते थे। लाखों लोगों को इन्होंने युद्ध में झोंक दिया। यही बात महाभारत के युद्ध में हुई थी। दुर्योधन के लोभ से ही लाखों मारे गये थे। महाभारत में कहा गया है कि अन्त में दुर्योधन का नाश हुआ। यही बात नैपोलियन, मुसोलीनी और हिटलर की हुई थी।

गीता का प्रवक्ता यह कह रहा है कि ऐसे लोग आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

मरणपर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं के आश्रय विषय भोगों में लीन (ये लोग) कहते हैं कि बस यही परम आनन्द है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

सैकड़ों आशाओं के बन्धन में बंधे हुए, काम और क्रोध में रत, विषय के भोग के लिये अन्याय से साधन एकत्रित करने की ये लोग चेष्टा करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

मैंने आज यह प्राप्त किया है और इस मनोरथ को प्राप्त कर लूंगा, मेरे पास इतना धन है और इतना भविष्य में और आ जायेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

वह शत्रु मुझ से मारा गया है और दूसरे भी मुझसे मारे जायेंगे, मैं ईश्वर हूँ और ऐश्वर्य का भोगने वाला हूँ, मैं बलवान और सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं बहुत धनवान हूँ, बहुत बड़े कुटम्ब वाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूंगा, हर्ष को प्राप्त करूँगा। ऐसे अज्ञान ने मोहित होते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक प्रकार के विचलित चित्त वाले, मोह जाल से ढपे हुए, विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त, अपवित्र हो, (ये असुर) नरक में गिरते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को ही श्रेष्ठ मानने वाले, घमण्डी, धन तथा मान के मद में चूर रीति-रिवाज अथवा शास्त्र के विधान के बाहर, नाममात्र के यज्ञों के द्वारा झूठ-मूठ यज्ञ रचाते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोध के वश में हुए (एवं) दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष मुझ (परमात्मा) से द्वेष करने वाले हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेष करने वाले पापियों और क्रूर कर्म करने वाले नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ।[४]

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे अर्जुन ! ये मूढ़ पुरुष जन्म-जन्मान्तर तक आसुरी योनि को प्राप्त होकर उससे भी अति नीच योनियों को प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामःक्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ नरक के ये तीन द्वार हैं। ये आत्मा का नाश करने वाले हैं। इससे इन तीनों को त्याग देना चाहिये। (आत्मा का नाश) का अभिप्राय है आत्मा में जो ऊपर उठने की अभिलाषा रहती है, मर जाती है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे अर्जुन ! इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त हुआ व्यक्ति अपने कल्याण का आचरण करता हुआ परम गति (मोक्षावस्था) की ओर जाता है।

---

४. आसुरी योनि का अभिप्राय वेद में समझाया गया है। एक मंत्र इस प्रकार है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के आत्महनो जनाः ॥ ऋजु० ४०-३२

अर्थात् असुर सम्बन्धी योनियाँ अज्ञान से आच्छादित हैं। इन योनियों में वे मनुष्य जाते हैं जो आत्मा का हनन करने वाले हैं।

आत्मा का हनन करने वाले के विषय में इससे अगले मंत्र में कहा है। ये वे लोग हैं 'जो आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् सब प्राणियों को अपनी तरह नहीं मानते।

अन्धकारमय, अज्ञानयुक्त योनियाँ हैं पशुओं की (अथवा पशुओं के समान आचरण करने वाले मनुष्यों की)। पशुओं का मन ज्ञान का संचय नहीं कर सकता। इस कारण वे अन्धकार में फँसे हुए माने जाते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो व्यक्ति शास्त्र में बताई विधि का त्याग कर अपनी इच्छानुसार कार्य करता है, वह न तो सिद्धि (कार्य में सफलता) प्राप्त करता है और न ही परम गति को और न सुख को पाता है।[५]

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

कार्य और अकार्य में शास्त्र ही प्रमाण है। इसलिये तू शास्त्र में जैसा बताया है, वैसा ही कर्म कर। तू ऐसा करने के योग्य है।

---

५. शास्त्र का अर्थ है किसी भी कार्य के ज्ञान का वर्णन करने की विद्या। केवल धर्म-कर्म के ज्ञान से ही इसका अभिप्राय नहीं है। वैसे तो शास्त्र भले ही किसी भी विषय पर हो, वह धर्मशास्त्र ही होता है। परन्तु वह उस विषय के धर्म अर्थात् उस विषय में करणीय बताने वाला शास्त्र ही कहाता है।

उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति पाचक का कार्य करता है। तब पकवान बनने के विधि-विधान को बताने वाला ग्रन्थ पाक शास्त्र कहलायेगा।

इस श्लोक में इस प्रकार के शास्त्र से भी अभिप्राय है। कहा है कि कोई भी कार्य हो, उस कार्य के शास्त्र में बताये विधि-विधान के अनुसार कार्य करना चाहिये। ऐसा करने से कार्य में सफलता और फिर कल्याण की प्राप्ति होती है। कोई होटल खोल लेता है, परन्तु खाना बनाने के नियमोपनियमों को नहीं जानता और भोजन की दुर्व्यवस्था करता है। उसका होटल का व्यवसाय तो असफल होगा ही, साथ ही जीवन में अन्य कल्याण की उपलब्धियों से भी वह वंचित रह जायेगा। उसे न तो इस संसार में सफलता प्राप्त होगी, न ही परलोक में।

सप्तदश अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने पूछा—

जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्यागकर केवल श्रद्धा के वश पूजा करते हैं, उनकी स्थिति कैसी है—सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी ?

श्रीकृष्ण उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

मनुष्य के स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार की श्रद्धा होती है। सात्त्विकी, राजसी और तामसी। अब इन (लक्षणों) को सुनो।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत ! यह पुरुष श्रद्धामय है। (हर मनुष्य किसी न किसी में श्रद्धा रखना चाहता है।) सब की श्रद्धा उनके मन और बुद्धि (अन्तःकरण) के अनुरूप होती है। श्रद्धा का लक्ष्यव्यक्ति जैसा होता है, वैसा ही वह मनुष्य होता है।[1]

---

१. श्रद्धा स्वभाव के अनुसार होती है। स्वभाव अन्तःकरण का विषय है। इस कारण बिना अन्तःकरण को समझे श्रद्धा और स्वभाव को समझा नहीं जा सकता।

अन्तःकरण में तीन पदार्थों का संयोग होता है। प्रायः लोग अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन पदार्थ मानते हैं। हम समझते हैं कि अहंकार सृष्टिरचना कर्म में बहुत स्थूल पदार्थ है। यह सदा मन, बुद्धि के साथ नहीं रहता।

यहाँ अहंकार का अभिप्राय अभिमान नहीं है। अभिमान कोई पदार्थ नहीं है। यह अन्तःकरण की एक अवस्था होती है। यह बदली भी जा सकती है। एक अभिमानी अन्तःकरण नम्रहीन और दीन भी हो सकता है। इस कारण अभिमान अन्तःकरण का अंग नहीं।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं और राजसी स्वभाव वाले यक्षों तथा राक्षसों को पूजते हैं। दूसरे (अर्थात तामसी स्वभाव वाले) प्रेत और भूत-गणों की पूजा करते हैं।[2]

परन्तु अभिमान अहंकार भी नहीं है। अहंकार तीन प्रकार का है। इनको सांख्य (दर्शन) मन तथा बुद्धि का एक स्थूल परिणाम मानता है।

अन्तःकरण में मन, बुद्धि के साथ जीवात्मा होता है। ये तीनों मिलकर अन्तः-करण बनाते हैं। इन तीनों में जीवात्मा सक्रिय अंग है और इसके कारण ही दोनों अन्य अंग कार्य करते हैं।

स्वभाव तीनों के मिले हुए (अन्तःकरण) का होता है। सांख्य दर्शन में कहा है कि स्वभाव विवेक (आत्म ज्ञान) से ही बदलता है। संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं जो स्वभाव को बदल सके।

ज्ञान भी अन्तःकरण को होता है। इस कारण अन्तःकरण के सक्रिय विभाग (जीवात्मा) को जब सत्य ज्ञान हो जाता है, तो अन्तःकरण विखण्डित हो जाता है। मन, बुद्धि तो शरीर के साथ विनष्ट हो जाते हैं परन्तु जीवात्मा, ज्ञान का स्वामी बना हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। इसी कारण सांख्य में तथा गीता में भी ज्ञान की भारी महिमा है।

ज्ञान के आधार पर ही यदि स्वभाव में श्रद्धा बन जाये तो काम, क्रोध, मोह इत्यादि छूट जाते हैं और बदले हुए स्वभाव वाला जीवात्मा परमात्मा में श्रद्धा बना लेता है।

२. ऊपर हमने बताया है कि जब सत्य ज्ञान होता है तो बन्धन छूट जाता है। कभी बन्धन (मन और बुद्धि का जीवात्मा पर प्रभाव) छूट जाता है, परन्तु शरीर नहीं छूटता। उस अवस्था में विवेकी जीवात्मा मन तथा बुद्धि पर शासन करने लग जाता है और जीवन-मुक्त अर्थात् सशरीर मोक्ष का आनन्द पाता है।

परन्तु जब तक निष्ठा, जिसे गीता का प्रवक्ता श्रद्धा कहता है, परमात्मा के अतिरिक्त किसी पर बनी रहती है (गुरु, पीर, पैगम्बर, ऋषि, महर्षि इत्यादि पर) तब तक जीवात्मा का संयोग मन और बुद्धि से रहता है। वह स्वभाव तीन प्रकार का बताया है।

सात्त्विक निष्ठा वह है जो देवों (विद्वानों तथा अवतार, गुरु इत्यादि) पर होती है। राजसी निष्ठा उन लोगों पर होती है जो यक्ष और राक्षसों पर श्रद्धा रखते हैं। ये प्रायः राजनीतिक नेता होते हैं। हजरत ईसा, गुरु नानक, तुलसी, कबीर, राम, कृष्णादि पर निष्ठा सात्त्विक होगी, परन्तु हजरत मुहम्मद,

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।

शास्त्र में बताये मार्ग को छोड़कर जो घोर तप तपते हैं, ऐसे दम्भ और अहं-कार से युक्त काम, आसक्ति तथा बल का आश्रय लेते हैं ।[३]

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान् ।।६।।

इस पाँच भौतिक शरीर में स्थित मुझ (परमात्मा) को कृश करने वाले (अर्थात तप करने वाले) न मानकर अज्ञानियों को निश्चय ही असुर स्वभाव वाले जानो ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ।।७।.

अपनी प्रकृति (प्रवृत्ति) के अनुसार ही भोजन भी तीन प्रकार का ही पसन्द किया जाता है । वैसे ही यज्ञ, दान और तप भी तीन प्रकार का होता है इनका परस्पर भेद सुनो ।

हिटलर, मुसीलोनी इत्यादि पर निष्ठा राजसी कहायेगी और तामसी निष्ठा भूत, प्रेत अर्थात् पीर, कबरों, समाधियों इत्यादि पर होती है ।

निष्ठा का अभिप्राय है इनके आश्रय कुछ प्राप्ति की आकांक्षा ।

३. शास्त्र ज्ञान की बात करता है । ज्ञान इस संसार का, इस संसार में प्राणी लोक और अप्राणी लोक का और इस संसार का संचालन करने वाले परमात्मा का । जो इस सत्य ज्ञान की बात छोड़कर अशास्त्रीय अर्थात् अज्ञान की बात करते हैं वे झूठा तप करते हैं और उनका फल विनाश ही होता है ।

आत्मतत्त्व की बात गीता के तेरहवें अध्याय में कही है । वहाँ स्पष्ट कहा है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों को जानो, तब ही तुम्हारा कल्याण होगा । यह शास्त्रीय ज्ञान है ।

राजनीति हो अथवा कोई व्यवसाय, वह सब ज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है । शर्त यह है कि सत्य ज्ञान होना चाहिये ।

वर्तमान राजनीति एक महान् छलना है । इस कारण सत्य ज्ञान इन राज-नीतिज्ञों के पास नहीं होता । न ही ये किसी को सत्य ज्ञान करा सकते हैं ।

जिसको सत्य ज्ञान हो जाता है, वह मरने से भयभीत नहीं होता । वह दुहरा जीवन नहीं रख सकता । उसका अन्तःकरण पारदर्शक पदार्थ की भाँति हो जाता है जो सबको स्पष्ट दिखाई देता है । उसमें कुछ छुपाकर रखने की न तो आवश्यकता होती है और न ही कुछ छुपा हुआ होता है ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।८।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला तथा स्थिर रखने वाला, रसयुक्त, हृदय को बल देने वाला (शरीर निर्माण में भाग लेनेवाला) भोजन सात्त्विक प्रवृत्ति वालों को प्रिय होता है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।९।।

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, गरम तीक्ष्ण (मिर्च वाले) रूखे, दाह उत्पन्न करने वाले ऐसे आहार राजसी स्वभाव वालों को पसन्द होते हैं और ये दुःख, शोक तथा भय उत्पन्न करने वाले होते हैं ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१०।।

सारहीन, आधा पका, रस-रहित और दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामसी प्रकृति वालों को पसन्द आता है ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।११।।

जो यज्ञ विधि अनुसार तथा मन को समझाकर फल की इच्छा के बिना किया जाये, वह सात्त्विक यज्ञ होता है ।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१२।।

जो यज्ञ दम्भाचरण के लिये अथवा फल का उद्देश्य रखकर किया जाये, उसे राजसी यज्ञ जानो ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१३।।

अनियमित (विधिहीन) ढंग से, अन्न के बिना, दक्षिणा के बिना, श्रद्धा से रहित किया हुआ यज्ञ तामसी यज्ञ होता है[४]

---

४. केवल अग्निहोत्र ही यज्ञ नहीं है । अग्निहोत्र को देव यज्ञ कहते हैं । जहाँ-जहाँ भी गीता में यज्ञ का उल्लेख हुआ है, इसके व्यापक अर्थों में ही हुआ है । यज्ञ के नौ प्रकार बताये गये हैं ।

वास्तव में संसार का कोई भी कार्य, जब मनुष्य-समाज के साँझे हित के लिये किया जाये, वह यज्ञ ही होगा । एक व्यक्ति का निजी व्यापार अथवा उद्योग धंधा भी यज्ञमय हो सकता है ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

दिव्य जनों (विद्वानों अथवा विशेष गुणों से युक्त) ब्राह्मणों और ज्ञानी जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शरीर सम्बन्धी तप कहाते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

और उद्वेग (क्रोध) के बिना, प्रिय, हितकरने वाला, सत्य भाषण, स्वाध्याय का स्वभाव, यह वाणी का तप कहाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, शान्ति, मौन (चुप रहना), अपने पर नियंत्रण और पवित्रता, यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

एक दुकानदार अपने माल की बिक्री करता हुआ, जब ग्राहकों से केवल मात्र अपने बेचने के परिश्रम मात्र का ही मूल्य लेता है, तब वह यज्ञ करता हुआ ही माना जायेगा। जो कुछ वह अपने परिश्रम का लेता है, वह यज्ञ का शिष्ट भाग कहाता है।

सात्त्विक यज्ञ की व्याख्या इसी प्रकार है।

यज्ञ शास्त्र में कहे अनुसार विधियुक्त होना चाहिये। इसका अभिप्राय है कि समाज में अथवा राज्य में किसी व्यापार अथवा उद्योग के जो निमोपनियम हैं, उनका पालन करते हुए व्यापार तथा उद्योग होना चाहिय।

दक्षिणा का अभिप्राय है कि व्यापार अथवा उद्योग में काम करने वालों का वेतन पुरस्कार इत्यादि।

श्रद्धा का अभिप्राय है कि उद्योग तथा व्यापार में विश्वास होना चाहिये कि वह समाज की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये है। अतएव 'श्रद्धारहित' का अभिप्राय है समाज में अविश्वास उत्पन्न करने वाला अर्थात् स्वार्थयुक्त।

इन लक्षणों से रहित व्यापार तथा उद्योग तामसी होगा।

इसी प्रकार जीवन का प्रत्येक कार्य यज्ञमय ही होगा, यदि इन बातों का ध्यान रखा जाये।

जिस कार्य में समाज का साँझा हित हो, वह कार्य, व्यापार, उद्योग अथवा कोई भी धंधा यज्ञमय हो सकता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

मनुष्य यदि इन तीनों प्रकार के कर्मों को श्रद्धा से युक्त होकर किसी प्रकार के फलों की आकांक्षा न रखता हुआ करे तो वह तपस्या सात्त्विक कहायेगी।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

और जो (मनुष्य) मान, पूजा, सत्कार पाने के लिये तप करता है, अथवा जो तप पाखण्ड के लिये करता है, ऐसा तप राजसी होता है और यह अल्प काल के लिये फल वाला है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से, शरीर को कष्ट देकर अथवा किसी दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तप तामसी कहाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान करना चाहिये, ऐसा मानकर दान देना और काल मात्र का विचार कर तथा बिना प्रतिकार की भावना से दिया दान सात्त्विक होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान कष्टपूर्वक, प्रतिकार के उद्देश्य से तथा फल की प्राप्ति से दिया जाये, वह दान राजसी दान कहाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कार पूर्वक, देश, काल और पात्र का विचार किये बिना दिया जाता है, वह तामसी दान कहा जाता है।

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ओं, तत, सत् ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का कथन है। उसी (तीन प्रकार के ब्रह्म से) से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये।[५]

---

५. कुछ लोग कहते हैं कि 'ओइम् तत् सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम है। निर्देशों का अर्थ नाम लिया जाता है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

इसलिये ब्रह्म (वेद) को जानने वाले को शास्त्र में विधान किया हुआ यज्ञ, दान, कर्म सदा ओं परमात्मा का नाम लेकर ही आरम्भ करना चाहिये ।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२५।।

उस (परमात्मा) का ही सब कुछ है, ऐसा विचार कर मोक्ष के आकांक्षी, अपना कुछ न मान तप, यज्ञ तथा दान ये तीन प्रकार की क्रिया करते हैं ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

इस विचार से यह (परमात्मा का नाम) सब अच्छे और सत्य कार्यों में प्रयोग किया जाता है । हे अर्जुन ! उत्तम कर्म में भी उसका यह (ओं) नाम प्रयोग किया जाता है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

यज्ञ, तप और दान में स्थित सत् (अनादि) ही है। (ये कर्म अनादि काल

बात तो ठीक है, परन्तु इसका आशय वह नहीं, जो कुछ वेदान्ती मानते हैं। उनका कहना है कि 'ओ३म तत् सत्' एक ही ब्रह्म के तीन नाम पड़े हैं। इस एक से ही वेद यज्ञ उत्पन्न हुए। वेद का अभिप्राय ज्ञान है और यज्ञ से अभिप्राय है सृष्टि-रचना ।

वेद और उपनिषद् ग्रन्थों में सत् अर्थात् अनादि और अक्षर तीन पदार्थ माने हैं परन्तु 'ओं तत् सत्' में से ही तीन ब्रह्म निकले हैं, यह अभिप्राय नहीं है। यह तो ठीक ही प्रतीत होता है कि ओं निमित्त कारण है यज्ञ (सृष्टि-रचना) का ।

यह इस प्रकार है जैसे देव यज्ञ में यज्ञ का कर्ता तो यजमान होता है, परन्तु यह नहीं कि यज्ञ की समिधा, अग्नि, घी, सामग्री भी यजमान ही है। ये पदार्थ यजमान के होते हुए भी स्वयं यजमान नहीं होते। इसी प्रकार सृष्टि-रचना परमात्मा करता है, परन्तु वह वस्तु (प्रकृति) जिससे जगत् के पदार्थ बने हैं, परमात्मा नहीं है ।

अतः इस श्लोक का अर्थ यह है कि इस जगत् की रचना [यज्ञ] करने वाला परमात्मा है। ज्ञान का देने वाला भी परमात्मा है परन्तु ज्ञान अनादि है। वह इतना ही सनातन है जितना परमात्मा है। वेद ज्ञान भी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के समान अनादि है ।

से चले आते हैं)। यह कहा जाता है कि उस परमात्मा के अर्थ किया हुआ कर्म भी सत् ही होता है ।

अभिप्राय यह है कि क्योंकि परमात्मा अनादि है, इस कारण उसके निमित्त किया कर्म भी अनादि ही होगा ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

हे अर्जुन ! बिना श्रद्धा के किया हुआ होम (यज्ञ), तथा बिना श्रद्धा के दिया हुआ दान, तप और कर्म, वह सब कुछ असत् (चिरकाल तक न रहने वाला) माना जाता है। ऐसा कर्म न इस लोक में, न ही परलोक में फल देता है ।

अष्टादश अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन ने कहा—

हे महाबाहो ! ऋषिकेश ! हे वासुदेव ! मैं त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक कर जानना चाहता हूँ । मुझे बताओ ।[1]

श्रीकृष्ण उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

कृष्ण ने कहा—

विद्वान् पुरुष काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं । विचारशील लोग सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ।

---

१. गीता का अठारहवां अध्याय पूर्ण गीता ग्रन्थ का उपसंहार कहा जा सकता है । यही कारण है कि मुख्य-मुख्य बातें जो पूर्व के अध्यायों में कही जा चुकी हैं, उनका पुनः इस अध्याय में उल्लेख आया है ।

कुछ लोग तो इस अध्याय के पाठ को पूर्ण गीता के पाठ के समान महत्व-पूर्ण समझते हैं ।

ऐसा भी माना जाता है कि मरण काल में यदि गीता के इस अध्याय को पढ़ा जाये अथवा सुना जाये तो पूर्ण गीता के पाठ का लाभ होता है ।

कुछ भी हो, इस अध्याय में पूर्ण गीता का निचोड़ संक्षेप में दे दिया गया है । इस कारण इसको उचित ध्यान देकर पढ़ना चाहिये और यदि कोई बात समझ न आये तो पूर्व के अध्यायों में उस विषय के श्लोकों को पढ़ना चाहिये, जहां उस विषय को व्याख्या से कहा है ।

२. संसार में कामनाओं का त्याग और निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है ।

'काम्यानां कर्मणाम्' का अभिप्राय है वे कर्म जो किसी कामना की पूर्ति के लिये किये जाते हैं । परमात्मा की भक्ति अथवा देवताओं का पूजन भी, किसी

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कई विद्वान् यह कहते हैं कि सभी कर्म दोष वाले होते हैं, इस कारण त्याज्य हैं । दूसरे लोग कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप त्याज्य नहीं हैं ।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

इस कारण हे अर्जुन ! मेरी निश्चित सम्मति सुन । वह यह कि त्याग भी तीन प्रकार का है ।

कामना की सिद्धि के लिये किया जाये, तो वह भी मनुष्य को बाँधता है ।

निष्काम भाव से कर्म करने का अर्थ है कि उस कर्म से किसी अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना न की जाये । परमात्मा की भक्ति भी जब किसी इच्छा की पूर्ति के लिये हो तो वह भी काम्यक कर्म कहायेगी ।

इस कारण गीता के प्रवक्ता ने कर्म, कर्म के लिये करने को कहा है । इसके फल की इच्छा के लिये नहीं ।

जब हम कोई कर्म करते हैं तो इसके अच्छे अथवा बुरे फल का विचार किया जाता है, परन्तु अच्छा अथवा बुरा अपने संदर्भ में नहीं, उसके संदर्भ में होना चाहिये जिसके लिये कर्म किया गया हो ।

उदाहरण के लिये एक राज्याधिकारी अपने अधीन सचिव को कहता है कि अमुक व्यक्ति को डिटेंशन ऐक्ट के अधीन पकड़ने की आज्ञा दे दो । तब सचिव के लिये यह विचारणीय नहीं होना चाहिये कि उसको पकड़ना उचित है अथवा अनुचित है । उसे तो आज्ञा पालन करनी है । परन्तु इस आज्ञा-पालन का सम्बन्ध यदि उसके सेवाकार्य अथवा किसी अन्य उपलब्धि के साथ हो जाये तो फिर कर्म का फल उसको भी प्राप्त होगा ।

सचिव समझता है कि राज्याधिकारी की आज्ञा अनुचित है । इस पर भी वह सेवाकार्य के कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ व्यक्ति को बंदीगृह में डाल देता है ।

परन्तु यदि इस आज्ञा पालन के समय सचिव के मन में यह भाव हो कि इससे उसके वेतन में अथवा उसकी अन्य किसी प्रकार की उपलब्धि में वृद्धि होगी तो उसका वह कर्म उसके लिये भी फलदायक हो जायेगा, और बँधन में बाँधने वाला होगा ।

ऐसी स्थिति में सचिव को अपना पद त्याग देना ही फल से बचने का साधन हो सकता है ।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म त्यागने वाले नहीं होते। वे निःसन्देह करने योग्य होते हैं। विद्वान् मनुष्यों को ये यज्ञ, दान, तप पवित्र करने वाले होते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ! ये (यज्ञ, दान, तप) कर्म भी और दूसरे कर्म भी आसक्ति और फलों को त्याग कर ही करने चाहिएं। यह मेरा उत्तम रूप से विचार किया हुआ मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्मों का त्याग करना उचित नहीं। मोहवश उनका त्याग करना तामसी त्याग कहा जाता है।[3]

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

जो भी कर्म है वह दुःख का कारण है और शारीरिक क्लेश के भय से त्यागा जाये, ऐसा त्याग राजसी त्याग कहाता है और यह त्याग के फल को नहीं देता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन! जो नियत कर्म है, उन कर्मों से मोह छोड़कर और फल की इच्छा का त्याग कर करे तो यह सात्त्विक कर्म कहाता है।

न द्वेष्टचकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

अकुशल (जो कुशलकारी न हो) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (कल्याणकारी) कर्म से मोह नही करता, सत्त्व गुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और त्यागी कहा जाता है।[4]

---

३. गीता का प्रवक्ता सब कर्मों के त्याग की सम्मति नहीं देता। वह कहता है कि यज्ञ, दान और तप तो कभी नहीं छोड़ने चाहिएँ। साथ ही नियत कर्मों का छोड़ना तामसी त्याग है। इसका अभिप्राय यह है कि खाना-पीना, शौचादि नियत कर्म छोड़ना पापमय हो जायेगा।

४. अकुशल (बुरे) कर्मों से द्वेष न करें, का अभिप्राय यह नहीं कि उनको करने लगें। न ही अच्छे कर्म से मोह न करने का अभिप्राय है कि उनको करे ही नहीं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

देहधारी पुरुष के लिये सब कर्म त्यागने सम्भव नहीं हैं, इस कारण जो कर्म के फल का त्याग करता है, वही त्यागी कहा जाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कामी पुरुष को मरने के उपरान्त (नये जन्म में) कर्म का अच्छा, बुरा और मिला-जुला तीन प्रकार का फल मिलता है और जो कामना से रहित हो कर्म करता है, उसे कर्म का फल नहीं मिलता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे अर्जुन! सांख्य सिद्धान्त में सब कर्मों की सिद्धि में ये पाँच हेतु (कारण) कहे गये हैं। तू इनको सुन।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (करने वाला जीवात्मा), पृथक्-पृथक् करण (इन्द्रियाँ इत्यादि) और पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ (कर्म करने की) और पाँचवाँ दैव (भाग्य)।[5]

जो सत् कार्य हैं, उसमें लीन रहता हुआ भी पुरुष त्यागी कहा जा सकता है।

यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है। किसी व्यक्ति ने एक वेद पाठशाला खोली है। उसे न तो सरकार से सहायता मिले और न ही उसके पाठशाला में शिक्षित विद्यार्थी को कोई सरकारी कार्य मिले तो मनुष्य क्या करे? ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति वेद पाठशाला को बंद कर दे क्या? यह सत्कार्य है। इसमें लीन रहता हुआ व्यक्ति फल की इच्छा का त्याग कर कर्म करता जाये।

यदि ऐसे व्यक्ति को सरकार कहे कि वेद के साथ कुरान भी पढ़ाओ, तब ही सहायता मिलेगी, तब यदि वह वेद विद्या को जारी रखने के मोह में कुरान इत्यादि पढ़ाना आरम्भ कर दे तो यह एक अच्छे कर्म (वेदविद्या) से मोह हो जायेगा। तब वह व्यक्ति सत्कार्य को छोड़ रहा माना जायेगा।

किसी अच्छे कर्म को करने के मोह में कोई अनिच्छित कर्म भी करना पड़े तो वह त्यागी नहीं कहा जा सकता और तब लोभ का वह फल भोगेगा।

५. कारण से अभिप्राय है कर्म करने में साधन। कर्म में कारण (जो कर्म-निर्माण करते हैं) पाँच ही हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो भी भले अथवा बुरे कर्म आरम्भ करता है, उसके ये पाँचों ही कारण होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल आत्मा को ही कर्त्ता मानता है, वह मूढ़ मनुष्य यथार्थ बात को नहीं जानता है।[६]

क. अधिष्ठान।—अधिष्ठान का अर्थ है आधार, परन्तु यहाँ अधिष्ठान का अभिप्राय होगा शरीर।

ख. कर्त्ता—कर्त्ता है चेतन तत्त्व जीवात्मा।

ग. करण—करण से अभिप्राय है शरीर में कार्य करने के साधन। ये तेरह हैं। दस इन्द्रियाँ, एक आभ्यंतरिक इन्द्रिय, एक मन और एक बुद्धि।

घ. चेष्टा अर्थात् कर्म करने की प्रवृत्ति (रुचि)। रुचि स्वभाव से बनती है।

ङ. दैव अर्थात् भाग्य। भाग्य से अभिप्राय है पूर्वजन्म के कर्मफल।

सब प्रकार के अच्छे (धर्मयुक्त) अथवा बुरे कर्म इन पाँच कारणों से ही होते हैं।

६. श्लोक १८-१६ में कहा है कि केवल आत्मातत्त्व को कर्म में साधन मान लेना भूल है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि जीवात्मा का कर्मों में उत्तर-दायित्व नहीं अथवा कुछ कम है। परन्तु जीवात्मा अकेला कुछ नहीं कर सकता।

जैसे युद्ध में लड़ता तो सैनिक ही है, परन्तु सैनिक भी लड़ नहीं सकता यदि उसको हथियार इत्यादि उपलब्ध न हों। बड़ी से बड़ी सेना भी, सुचारु रूप से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थोड़े से लोगों से परास्त हो जाती है।

जीवात्मा कितना भी दृढ़निष्ठ क्यों न हो, जब तक उसके कर्म करने में सहायक उसके करण सबल और कुशल न हों, वह कुछ नहीं कर सकता।

श्लोक १८-१५ में बताया है कि कर्म में हेतु पाँच हैं। शरीर दुर्बल अथवा रोगी होने पर भी कार्य सुचारु नहीं हो सकेगा। इस प्रकार इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जब तक सुचारु रूप से काम करने वाली न हों, तब तक कार्य नहीं हो सकता। तीसरा हेतु है कर्म करने में प्रवृत्ति अर्थात् रुचि। वैरागी व्यक्ति युद्ध नहीं लड़ सकता अथवा वेश्यागामी राज्य नहीं कर सकता। अभिप्राय यह है कि कार्य में रुचि भी होनी चाहिये। चौथा हेतु है जीवात्मा। जीवात्मा तो उत्तर-दायित्व लेने वाला है। जैसे कारखाने में मशीनें मजदूर, प्रबन्धक, पुरुष कार्य करते हैं, परन्तु स्वामी के बिना ये कार्य नहीं कर सकते। इसी प्रकार हथियार

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसकी बुद्धि में, मैं कर्त्ता हूं, ऐसा भाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि (कर्मों में) लिप्त नहीं होती, वह मनुष्य सब लोगों को मारकर भी न मारता है, न ही पाप में (जन्म-मरण के बन्धन में) बंधता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (जिस विषय में जानना हो) ये तीनों ही कर्म के प्रेरक हैं। कर्त्ता, करण (साधन) और कर्म ये तीनों ही कर्म को सम्पन्न करने में साधन हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता भी गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के कहे हैं। उनको भी भली प्रकार से सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान से सब प्राणियों में, एकरस तथा बिना बंटे, परमात्मा की उपस्थिति का पता चले, वह ज्ञान सात्त्विक-ज्ञान समझा जाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् प्रकार के प्राणियों में भिन्न-भिन्न भाव को पृथक्-पृथक् जानता है, उसे राजसी ज्ञान कहते हैं।

(करण) इत्यादि सब आवश्यक होते हुए भी उत्तरदायित्व तो स्वामी का ही होता है। वही कार्य जीवात्मा का है और पाँचवाँ हेतु है पूर्वजन्म के कर्म। जो शरीर को क्षीण कर केवल आत्मा को उन्नत करने में लगे रहते हैं, वे कर्म में सफल नहीं हो सकते।

यह ठीक है कि कर्म मनुष्य को इस संसार में बाँधते हैं, परन्तु वे सकाम कर्म होते हैं। गीता का प्रवक्ता तो निष्काम कर्म करने के लिये कहता है। कर्म किये बिना नहीं रहा जा सकता। इस कारण निष्काम कर्म करो। परन्तु निष्काम कर्म करने के लिये भी तो इन पाँचों साधनों की आवश्यकता रहती है।

गीता का प्रवक्ता मानता है कि न तो वैराग्य से मोक्ष प्राप्ति हो सकती है, न ही केवल चिन्तन इत्यादि से। उसका अन्तिम कथन यही है कि कर्म तो करना ही है। इस कारण ये पाँचों साधन शुद्ध, पवित्र, बलवान तथा कार्य-कुशल होने चाहिएँ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

और जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर में ही सीमित हो और उसी में लीन हो, वह युक्तिविहीन और अर्थरहित तुच्छ ज्ञान तामसी कहा गया है।[७]

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

नियत कर्म लग्न (मेरा है—ऐसी भावना से) रहित, फल की इच्छा से रहित, राग-द्वेष के बिना किया जाये, वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।

और जो कर्म फल की इच्छा से, तथा अहंकार की तुष्टि के लिये बहुत परिश्रम से, किया जाये, (मैंने किया है—ऐसी भावना से किया जाये) वह कर्म राजसी कहा जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।

जब कर्म बन्धन से (परिणाम का विचार न कर) हानि, हिंसा और अपनी सामर्थ्य का अनुमान न लगाकर आरम्भ किया जाये, वह तामसी कर्म कहाता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।२६।।

आसक्ति के बिना, अपनी डींग न हाँकने वाला धैर्य और उत्साह से युक्त, सिद्धि-असिद्धि, हर्ष-शोकादि विचारों से रहित होकर कर्म करने वाला कर्त्ता सात्त्विक कहाता है।

---

७. ज्ञान तीन प्रकार का माना है। ज्ञान से ही कर्म का निश्चय होता है। इस कारण कर्म भी तीन प्रकार के हो जायेंगे।

जिस ज्ञान से पता चले कि सब प्राणियों में एक सर्वव्यापक परमात्मा का वास है और जब भी हम किसी से भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं, वह सर्वव्यापक परमात्मा देखता है, जैसे एक पराये मनुष्य के पाप कर्म को देखता है, ऐसा मनुष्य सात्त्विक ज्ञान रखता कहा जायेगा।

इसी प्रकार मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव करने वाला ज्ञान राजसी होता है। इस ज्ञान से युक्त एक देश से दूसरे देश में, एक परिवार से दूसरे परिवार में और एक जाति-मज़हब से दूसरे मजहब में भेद करने लगते हैं।

अब ज्ञान ऐसा हो कि मनुष्य अपने को सबसे पृथक् समझे तो वह ज्ञान तामसी होगा।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।२७।।

रागी अर्थात् कर्म से मोह करने वाला, लोभी तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला तथा अशुचि से युक्त और हर्ष शोक से युक्त कर्म करने वाला राजसी कर्ता कहाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।

अस्थिर चित्त वाला, मूढ़, घमण्डी, धूर्त, किये कर्म का नाश करने वाला, किये पर दुःख अनुभव करने वाला और आलसी, दीर्घसूत्री कर्त्ता तामसी कहा जाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।२९।।

हे अर्जुन ! बुद्धि का और धारण शक्ति का भी गुणों के विचार से तीन प्रकार का भेद है। वह मेरे द्वारा पृथक्-पृथक् कहा हुआ सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

हे पार्थ ! प्रवृत्ति मार्ग (कर्म में कैसे लगना चाहिये) और निवृत्ति मार्ग (कर्म का त्याग कहां करना चाहिये) को, साथ ही करणीय को, भययुक्त कर्म और अभययुक्त व्यवहार को, बन्धन और मुक्ति को, जो बुद्धि तत्त्व से जानती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।

हे अर्जुन ! जिस बुद्धि द्वारा धर्म और अधर्म का तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भी ठीक-ठीक पता न चले, वह बुद्धि राजसी कही जाती है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

हे अर्जुन ! जो तमोगुण से आवृत हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत मानती है, वह तामसी होती है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।

हे अर्जुन ! योग क्रिया से हुई अविचल धारणा से (मन, प्राण और इन्द्रियों की) क्रियाओं को जो धारण करता है, वह सात्त्विक धारणा वाला मनुष्य है। (धारणा का अभिप्राय है विचार)।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

और हे अर्जुन ! फल की इच्छा करता हुआ, मोह में फँसा हुआ मनुष्य जिसे धारणा के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह धारणा राजसी है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे अर्जुन ! दुष्ट बुद्धि वाला पुरुष जिस धारणा से नींद, भय, शोक और दुःख एवं अभिमान को नहीं छोड़ता, वह धारण तामसी है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सुख भी तीन प्रकार का है । वह मुझसे सुन । जिस सुख से अभ्यास से रमण करता है (सुख को स्वभाव से भोगता है) और दुःख से सर्वथा बाहर हो जाता है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

वह (सुख) आरम्भ में तो विष के सदृश प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य हो जाता है तथा आत्मा एवं बुद्धि के संयोग प्रसाद का रूप होता है, वह सुख सात्त्विक होता है ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह सुख भोग काल में तो अमृत सदृश प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में विष के सदृश होता है; वह राजसी सुख कहाता है ।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो सुख भोगकाल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहने वाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामसी कहाता है ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथिवी में अथवा स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जो इन प्रकृति-जन्य गुणों से रहित हो ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के पृथक्-पृथक् कर्म इनके स्वभाव के गुणों के अनुसार बाँटे गये होते हैं ।[८]

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शान्त चित्त, इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण, शरीर, मन और बुद्धि में शुद्धता, सरलता तथा ज्ञान-विज्ञान में एवं परमात्मा में विश्वास ये स्वाभाविक कर्म ब्राह्मण के हैं ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रंकर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरता, तेज, धैर्य, चतुराई (कार्य करने का उचित ढंग) तथा युद्ध में न भागने का स्वभाव, दान देना, परमात्मा पर विश्वास ये स्वाभाविक कर्म क्षत्रिय के हैं ।[९]

---

८. धर्म स्वभाव से उत्पन्न होता है । परन्तु स्वभाव जन्म से नहीं होता । यदि ऐसा होता तो ब्राह्मण की सन्तान कभी भी अधर्माचरण करने वाली नहीं होती ।

देखने में ऐसा नहीं आता । अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है कि क्षत्रिय की सन्तान राजसी स्वभाव की नहीं भी होती । ब्राह्मण सफल राजा होते देखे गये हैं और राजपुत्र यौवन में ही सन्यासी बने हुए भी इतिहास में मिलते हैं । इस कारण स्वभाव का जन्म से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है ।

स्वभाव, वातावरण, संगत तथा शिक्षा से बनता है । साथ ही इसका सम्बन्ध पूर्वजन्म के कर्मों से भी होता है ।

अतएव केवल मात्र परिवार, जाति और स्थान देख कर ही स्वभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता ।

आर्य पद्धति यह रही है कि गुरुकुल में प्रवेश के समय और गुरुकुल छोड़ने के समय युवक को स्वयमेव पता चल जाता था कि वह किस प्रकार के कार्यों में रुचि रखता है । वह स्वेच्छा से ही अपना जीवन कार्य निश्चय कर लेता था ।

९. श्लोक १८-४३ में शब्द है 'ईश्वर भावश्च' । कई टीकाकार इसका अर्थ यह करते हैं कि क्षत्रिय अपने को सबका स्वामी समझे । हम समझते हैं कि इसका अर्थ है कि एक क्षत्रिय अपने कार्य में ईश्वर का हाथ समझे ।

प्रायः राजा लोग अपने को सब का स्वामी मानते हैं और ऐसे राजाओं का

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गो-पालन तथा व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और सेवा-कार्य करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लीन मनुष्य संसिद्धि (श्रेष्ठ सिद्धि) को प्राप्त करता है । किस प्रकार अपने कर्म में लीन मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है, वह मुझ से सुन ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस परमात्मा से सब प्राणियों की उत्पत्ति हुई, जिससे यह सब कुछ व्याप्त है, उस परमात्मा को अपने स्वाभाविक कर्म से अर्चना करता हुआ (कर्म को उसके निमित्त समझता हुआ) मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अपने वर्ण का धर्म सामान्य रूप से पालन किया हुआ भी दूसरे के कुशलता से पालन किये धर्म से श्रेष्ठ होता है क्योंकि स्वभाव से वर्ण नियत होता है । इस कारण अपने स्वभाव से किये कर्म से दोष का भागी नहीं होता ।[10]

अंत बुरा होता है ।

वर्तमान युग में हिटलर का उदाहरण उपयुक्त है । हम समझते हैं कि हिटलर में सब गुण क्षत्रिय के थे, परन्तु वे गुण एक श्रेष्ठ क्षत्रिय के न होकर एक असुर क्षत्रिय के थे और परिणाम वही हुआ जो एक असुर का होना चाहिये था ।

श्लोक १८-४६ में कहा है कि—क्षत्रिय तथा सब वर्ण के लोग जब परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हैं तो वे अपने वर्ण में रहते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अत. यदि यह मान लें कि एक क्षत्रिय अपने को स्वयं ईश्वर मानता है तो समझना चाहिये कि वह एक असुर क्षत्रिय है । इसी प्रकार असुर ब्राह्मणों में भी हो सकते हैं ।

१०. इस श्लोक (१८-४७) का अभिप्राय यह है कि वर्ण, गुण, कर्म, स्वभाव से निश्चय हुए हैं । इस कारण अपने वर्ण के कर्म में कुशलता प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये ।

उदाहरण के रूप में एक ब्राह्मण सेनाध्यक्ष बन जाता है । उसका स्वभाव तो है सदा दूसरों के दोषों को क्षमा करना । वह अपने अधीन एक सैनिक को, सैनिक

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

स्वाभाविक कर्म यदि दोषपूर्ण (अपनी योग्यता से कम) भी प्रतीत हो तो उसे छोड़ना नहीं चाहिये । क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश आरम्भ में सब कर्म दोष से ढपे होते हैं ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जो व्यक्तिअपने वर्ण के धर्म में आसक्तिरहित एवं स्पृहारहित होकर अपने मन और इन्द्रियों को वश में कर विचरता है, वह सन्यास भाव (त्याग के भाव) से परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे अर्जुन ! एक मनुष्य (किसी भी वर्ण का हो) कैसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है, यह तू संक्षेप में सुन । ब्रह्म की प्राप्ति ही तत्त्व ज्ञान तथा श्रद्धा की परकाष्ठा है ।

रहस्य शत्रु को बताते हुए पकड़ लेता है । वह स्वभाववश उसको क्षमा कर देना चाहेगा, परन्तु यह सेना के कार्य को हानि पहुँचाने वाला होगा । इस कारण कहा है कि एक ब्राह्मण स्वभाव के व्यक्ति को सेनाध्यक्ष कार्य करना ही नहीं चाहिये । युद्ध की विद्या को भले ही वह जानता हो, परन्तु वह सेनाध्यक्ष बनने के योग्य नहीं ।

इससे उलट बात भी हो सकती है ।

एक क्षत्रिय स्वभाव का व्यक्ति यदि अध्यापक बन जाये तो वह स्कूल को एक शिक्षण संस्था के स्थान एक सेना में बदल देगा और स्कूल में चरित्र निर्माण और ज्ञानवर्द्धन हो नहीं सकेगा ।

इसी कारण कहा है कि अपने स्वभाव से स्वीकार किये वर्ण का कार्य ही करे ।

एक क्षत्रिय स्वभाव का व्यक्ति एक अध्यापक नहीं बन सकता, भले ही वह भूगोल और गणित का बहुत बड़ा ज्ञाता हो ।

परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि यदि ब्राह्मण के घर उत्पन्न व्यक्ति अधर्मयुक्त सेवा करने लगे तो वह शूद्र नहीं हो जाता । उसका स्वभाव बदल गया है ।

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

विशेष शुद्ध, युक्त बुद्धि (सर्वथा निर्मल बुद्धि) से युक्त एकान्त सेवी (संसार से पृथक्, जल में कमलवत् रहने वाला), मन, शरीर पर नियन्त्रण रखने वाला, वैराग्य से युक्त (आसक्तिरहित) व्यक्ति, निरन्तर ध्यान योग में लीन (अपने कार्य में ध्यान लगाने वाला), धैर्य रखने वाला और अपने को वश में रखने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग कर रहने वाला (उचित बोलने वाला और उचित सुनने वाला इत्यादि) राग और द्वेष (मोह तथा वैर) को त्यागने वाला—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अहंकार, अनावश्यक बल प्रयोग, घमण्ड, काम, क्रोध, संग्रह करने की प्रवृत्ति का त्याग कर, ममतारहित शान्त चित्त मनुष्य ब्रह्म में लीन होने के योग्य होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्म में लीन और सदा प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति न तो किसी बात का शोक करता है, न ही किसी बात की इच्छा करता है। सब प्राणियों में समभाव हुआ वह परमात्मा की भक्ति को प्राप्त होता है।[11]

---

११. यहाँ ब्रह्म और परमात्मा की भक्ति पृथक्-पृथक् बतायी है।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ भी ब्रह्म का वर्णन आता है, वहाँ ब्रह्म से अभिप्राय पूर्ण व्योम अर्थात् जगत का ज्ञान रखने वाले से अभिप्राय है। भक्ति केवल परमात्मा की कही है।

ब्रह्म और परम ब्रह्म का अभिप्राय श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट किया है—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥
(श्वे० उ० १-७)

परम ब्रह्म के विषय में ऊपर (श्वे० १-६ में) कहा है कि जिसमें तीन अक्षर (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) रहते हैं और जिसमें ब्रह्मलीन जन्म-मरण से मुक्त जीव रहते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

श्रद्धा भक्ति से जो मुझ (परमात्मा) को भलीभाँति जानता है, वह मुझ (परमात्मा) को तत्त्व से जानकर मुझ (परमात्मा) में ही प्रवेश पा जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरे (परमात्मा के) आश्रय सदा सब कर्मों को करता हुआ, मेरी (परमात्मा की) कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को पा जाता है (मोक्ष प्राप्त कर लेता है)।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

सब कर्मों को बुद्धि से (विचार कर) करता हुआ और मन से उनके फलाफल को मुझ (परमात्मा) पर छोड़ता हुआ (अर्थात् परमात्मा के परायण होकर कर्म करता हुआ) तू मेरे (परमात्मा के) चित्त वाला हो।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझ (परमात्मा) में निरन्तर चित्त लगाने वाला, मेरी (परमात्मा की) कृपा से जन्म मृत्यु-आदि सब संकटों से तर जायेगा और कहीं तू अहंकार के कारण इस मेरी सम्मति को नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायेगा (परमार्थ के मार्ग से भ्रष्ट हो जायेगा)।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

जो तू, अहंकार के आश्रय युद्ध नहीं करूँगा, इस प्रकार का निश्चय करेगा तो यह तेरा निश्चय मिथ्या होगा, क्योंकि (क्षत्रिय का) स्वभाव तुझ से युद्ध करायेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे अर्जुन! मोहवश जिस कर्म को तू करना नहीं चाहता, उसको अपने

ब्रह्म का अभिप्राय है पूर्ण रचित जगत् जिसमें 'सर्वमिदं तत्' सब कुछ है।

और भक्ति जिससे पूर्ण व्योम में घूमने-फिरने की शक्ति मिल जाती है, वह केवल परमात्मा की है। ब्रह्म के अन्य अंशों की नहीं।

इसी कारण ब्रह्म, जिसमें ज्ञानी आत्माएँ लीन होती हैं, का अभिप्राय ब्रह्माण्ड है। उसका ज्ञान प्राप्त करे परन्तु भक्ति परमात्मा की करने को कहा है।

स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ तू परवश हुआ करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन ! शरीर रूपी यंत्र के हृदय में स्थित ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित उनको अपनी शक्ति का भ्रमण कराता (कर्म में लीन रखता) है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे अर्जुन ! सब प्रकार से उस (परमेश्वर) की ही शरण को प्राप्त हो, उसकी ही कृपा से तू सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गोपनीय से भी गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है। इस पर विचार कर, जैसी इच्छा हो वैसा ही तू कर।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सब गोपनीयों से भी गोपनीय मेरे परम श्रेष्ठ वचन को फिर सुन क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है। इस कारण यह परम हितकारक वचन मैं तुम्हें कहता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मेरी मति अनुसार मेरे (कथन) में विश्वास करता हुआ, मेरे (विचारित मत के अनुसार) आचरण करते हुए, मेरे जैसा ही हो जा। ऐसा होने पर मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझे (परमात्मा को) ही प्राप्त होगा।[१२]

---

१२. इस श्लोक (१८-६५) में जो 'मन्मना' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह कृष्ण के अपने लिये (परमात्मा के लिये नहीं) किया समझ में आता है। कारण यह कि कृष्ण परमात्मा नहीं थे।

कृष्ण देवकी के गर्भ से संसार में आये थे।

हम कृष्ण को अवतार तो मानते हैं, परन्तु अवतार का अर्थ परमात्मा नहीं है। वेद में परमात्मा के कुछ चिह्न (यजु० ४०-८ में) कहे हैं। वे श्रीकृष्ण में नहीं थे।

इस पर भी वह भगवान् थे। क्योंकि उनमें भगवान् के छहों लक्षण पाये जाते थे। वे छहों लक्षण परमात्मा के लक्षणों से जो (यजु० ४०-८) में वर्णित हैं,

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मों को छोड़कर मेरे कहे के अनुसार कार्य कर। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कराकर मोक्ष पद दूंगा। शोक न कर।[१३]

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

यह जो मैंने प्रवचन किया है, यह किसी तपरहित, भक्ति (विश्वास) रहित, और जो सुनने की इच्छा न करता हो, उनको नहीं कहना चाहिये अथवा जो परमात्मा की निन्दा करते हैं, उनको भी यह नहीं बताना चाहिये।

भिन्न हैं।

विष्णु पुराण में भगवान् के कहे लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा की प्राणशक्ति की विशेष मात्रा भगवान् कहे जाने वाले व्यक्ति में होती है और कृष्ण के अतिरिक्त भी कई व्यक्ति उस विशेष प्राण शक्ति से युक्त हो चुके हैं।

इस पर भी कृष्ण योगयुक्त अवस्था में प्रवचन कर रहे थे। इसी कारण अन्त में उन्होंने कहा कि तू मुझे ही प्राप्त होगा अर्थात् परमात्मा को ही प्राप्त होगा।

१३. 'सब धर्मों को छोड़कर' का अभिप्राय है कि सब प्रकार के कर्मों को छोड़कर इस युद्ध कर्म में रत हो। कर्म भी धर्म होता है और मनुष्य के लिये करणीय कर्म (धर्म) बहुत से हैं। उदाहरण के रूप में परिवार, गाँव, जनपद, राज्य, देश में सांस्कृतिक भेद हो सकता है। आज से कुछ काल पहले अरोड़वंश समाज में बजाज, सचदेवा, ग्रोवर इत्यादि जातियाँ ही गोत्र मानी जाती थीं और एक सचदेव के लड़के का विवाह सचदेव की लड़की से नहीं होता था, परन्तु अब यह सांस्कृतिक चालना नहीं रही। इस प्रकार की प्रथा क्षत्रिय जाति वालों अथवा ब्राह्मण वर्णन में नहीं थी। वहाँ गोत्र किसी ऋषि के नाम से माना जाता है।

यह है अभिप्राय धर्म-संस्कृति का।

इनको छोड़कर, कृष्ण अर्जुन से कह रहा है, वह कार्य कर जो मैंने तुम्हें बताया है और फिर मैं तुम्हें पार लगा दूंगा। अर्थात् कृष्ण ने इस युद्ध में अर्जुन की अंत तक सहायता करने का वचन दिया था।

कृष्ण चाहता था कि अर्जुन युद्ध करे और भाई-बन्धुओं के लिये झूठे मोह का विचार छोड़कर वास्तविक कार्य (धर्म की स्थापना, साधुओं के परित्राण और दुष्टों के विनाश) में लग जाये।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।

जो इस परम गूढ़ वचन का मेरे भक्तों में (मुझ पर विश्वास रखने वालों में) कहेगा, वह मेरे को ही प्राप्त होगा । मेरे जैसा योगी हो जायेगा ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।

(जो मेरे इस प्रवचन को दूसरों को सुनाता है) उससे बढ़कर मेरा और बड़ा प्रिय कोई नहीं है और न उससे बढ़कर कोई प्रिय होगा ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।

और जो हम दोनों के इस संवाद को विश्वास से पढ़ेगा अथवा सुनेगा वह मेरे ही मत का अर्थात् मेरे जैसे विचारों का हो जायेगा ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।७१।।

जो व्यक्ति विश्वास से तथा दोष-दृष्टि से रहित होकर इस (प्रवचन) का श्रवण मात्र भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर (पाप कर्म छोड़कर) उत्तम कर्म करने वाला होकर श्रेष्ठ (परिवारों अथवा स्थानों पर) जन्म लेगा ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।७२।।

हे अर्जुन ! जो कुछ मैंने कहा है उसे तूने ध्यान देकर सुना है न ? और उसे सुनकर तेरा अज्ञान नष्ट हुआ है अथवा नहीं ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

अर्जुन ने उत्तर दिया—हे कृष्ण ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है । मेरी स्मृति (दुर्योधनादि ने हमारे साथ कैसा व्यवहार किया है उसकी स्मृति) लौट आयी है । अब मेरा चित्त स्थिर हो गया है, मेरा संदेह नष्ट हो गया है । इस कारण अब मैं तेरा कहा मानूंगा ।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।

संजय ने (धृतराष्ट्र को) कहा—

इस प्रकार यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद मैंने वसुदेव के पुत्र कृष्ण और महात्मा अर्जुन में होता सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

(महर्षि) व्यास की कृपा से प्राप्त दिव्य दृष्टि से परम गोपनीय योग की व्याख्या योगेश्वर कृष्ण से कहते हुए मैंने सुनी है ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

हे राजन ! कृष्ण और अर्जुन में यह पुण्यमय और अद्भुत संवाद मैं स्मरण कर बार-बार हर्षित होता हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

हे राजन ! श्री हरि (परमात्मा) के इस अद्भुत रूप को भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में हर्ष और विस्मय बार-बार होता है ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण (जैसे विद्वान्) हैं और जहाँ अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले अर्जुन जैसे योद्धा हैं, वहाँ पर ही लक्ष्मी, विजय, विभूति और अचल नीति चल सकती है, ऐसा मेरा मत है ।

□□□

श्रीमद्भगवद्गीता श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	अध्याय	श्लोक	श्लोक	अध्याय	श्लोक
अकीर्ति	२	३४	अनन्यचेताः	८	१४
अक्षरं ब्रह्म	८	३	अनन्याश्चिन्तयन्तो	९	२२
अक्षराणामकारो	१०	३३	अनपेक्षः	१२	१६
अग्निर्ज्योतिरहः	८	२४	अनादित्वान्निर्गुण-	१३	३१
अच्छेद्योऽयम्	२	२४	अनादिमध्यान्त-	११	१९
अजोऽपि	४	६	अनाश्रितः	६	१
अज्ञश्चा-	४	४०	अनिष्टमिष्टं	१८	१२
अत्र शूरा	१	४	अनुद्वेगकरं	१७	१५
अथ केन	३	३६	अनुबन्धं	१८	२५
,, चित्तं	१२	९	अनेकचित्तविभ्रान्ता	१६	१६
,, चेत्	२	३३	अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं	११	१६
,, चैनं	२	२६	अनेकवक्त्रनयन-	११	१०
अथवा बहुनैतेन	१०	४२	अन्तकाले	८	५
,, योगिनामेव	६	४२	अन्तवत् तु	७	२३
,, व्यवस्थितान्	१	२०	अन्तवन्त	२	१८
अथैतदप्यशक्तो	१२	११	अन्नाद्	३	१४
अदृष्टपूर्वम्	११	४५	अन्ये च	१	९
अदेशकाले	१७	२२	अन्ये त्वेवमजानन्तः	१३	२५
अद्वेष्टा	१२	१३	अपरं भवतो	४	४
अधर्मं धर्ममिति	१८	३२	अपरे नियता-	४	३०
अधर्माभिभवात्	१	४१	अपरेयमित-	७	५
अधश्चोर्ध्वं	१५	२	अपर्याप्तं	१	१०
अधिभूतं	८	४	अपाने	४	२९
अधियज्ञः	८	२	अपि चेत् सुदुराचारो	९	३०
अधिष्ठानं	१८	१४	अपि चेदसि	४	३६
अध्यात्मज्ञाननित्यत्व-	१३	११	अप्रकाशो	१४	१३
अध्येष्यते	१८	७०	अफलाकाङ्क्षिभि-	१७	११
अनन्तविजयं	१	१६	अभयं	१६	१
अनन्तश्चास्मि	१०	२९	अभिसंधाय	१७	१२

श्लोक	अध्याय	श्लोक	श्लोक	अध्याय	श्लोक
अभ्यासयोगयुक्तेन	८	८	अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः	१६	१८
अभ्यासे	१२	१०			
अमानित्व-	१३	७	अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्	१८	५३
अमी च	११	२६			
अमीहि	११	२१	अहमात्मा	१०	२०
अयतिः	६	३७	अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्व-	१६	२
अयनेषु	१	११	अहिंसा समता	१०	५
अयुक्तः	१८	२८	अहो	१	४५
अवजानन्ति	९	११	आख्याहि	११	३१
अवाच्यवादांश्च	२	३६	आचार्याः	१	३४
अविनाशि	२	१७	आढ्योऽभिजन-	१६	१५
अविभक्तं च	१३	१६	आत्मसंभाविताः	१६	१७
अव्यक्तं	७	२४	आत्मौपम्येन	६	३२
अव्यक्तादीनि	२	२८	आदित्यानामहं	१०	२१
अव्यक्ताद् व्यक्तयः	८	१८	आपूर्यमाण-	२	७०
अव्यक्तोक्षर	८	२१	आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	८	१६
अव्यक्तोऽय-	२	२५	आयुःसत्त्वबलारोग्य-	१७	८
अशास्त्रविहितं	१७	५	आयुधानामहं	१०	२८
अशोच्यानन्व-	२	११	आरुरुक्षोर्मुने-	६	३
अश्रद्दधानाः	९	३	आवृतं	३	३९
अश्रद्धया हुतं	१७	२८	आशापाशशतै-	१६	१२
अश्वत्थः	१०	२६	आश्चर्यवत्	२	२९
असंयतात्मना	६	३६	आसुरीयोनि-	१६	२०
असंशयं	६	३५	आहारस्त्वपि	१७	७
असक्तबुद्धिः	१८	४९	आहुस्त्वा	१०	१३
असक्तिरनभि-	१३	९	इच्छा द्वेषः सुखं	१३	६
असत्यमप्रतिष्ठं	१६	८	इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७	२७
असौ	१६	१४	इति क्षेत्रं	१३	१८
अस्माकं	१	७	,, गुह्यतमं	१५	२०
अहं क्रतुरहं	९	१६	,, ते ज्ञान-	१८	६३
अहं वैश्वानरो	१५	१४	इत्यर्जुनं	११	५०
अहं सर्वस्य	१०	८	इत्यहं	१८	७४
अहं हि	९	२४	इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४	२

● ●